

मनोहर सीरोज न० ४

इलाज

(कहानी-संग्रह)

लेखक

श्री शम्भूरत्न मिश्र, 'मुकुल'

मूल्य चार

प्रकाशक—श्रीतीर्थभोदन मिश्र,
माया कार्यालय,
इलाहाबाद ।

Copyright reserved with the publisher

मुद्रक—श्रीरेवन्नाथ,
माया प्रेस,
इलाहाबाद ।

इलाज

हरीश खाने बैठा ही था कि मुन्नी ने बाहर से दौड़ कर सुनाया—“भैया, कोई आया है, तौंगा खड़ा है।”

हरीश खाते-खाते उठा, हाथ धो, बाहर आया। देख कर विनय को नमस्कार किया। “श्रीर पीड़ यह कौन ?”

विनय बोला—“अरे, इसे नहीं पहिचाना, चिन्ता है, मेरी बहिन।”

श्रीर चिन्ता क्या कहे। साड़ी सँभाल, मुस्करा भर दी। हरीश के नमस्कार का उत्तर दे वह चुप हो गई। फिर विनय हरीश के साथ धीरे धीरे अन्दर पहुँचा। बीनू ने तौंगे से सामान उतार लिया था। हरीश चिन्ता और विनय के आने का प्रुशी में अपने को मी मूल गया। कमरे में चिन्ता की ठिठकते देख विनय बोला—“अरे, यहाँ किसका घर है ? यह तो अपना घर है। चल, चल, अन्दर चल।” फिर भीतर उसे ढकेलते वह दादी के निकट पहुँचा। झुक कर पैर छुये। दादी ने विनय की पीठ पर हाथ फेरा, बोलों—“पेटा, ठाक से तो रहे ? बहुत दिन बाद बतारस आये और यह ?”

विनय ज़ोर से हँस पड़ा। बोला—“दादी, इसे नहीं पहिचाना, चिन्ता है, मेरी बहिन, जो आपकी माला उठा कर बाग़ में भाग जाती थी।”

“चिन्ता !”

दादी हँस पड़ीं। फिर बोलों—“इधर आ बे ? तू तो बहुत सयानी हो गई है। हरीश के जनेऊ के समय तो तू केवल आठ साल की थी।” चिन्ता के मस्तर पर हाथ फेरते फिर बोली—“याद है, तुम्हे मेरी ?”

चिन्ता धीरे से हँस दी, जमे कहना चाहती हो—अरे नहीं।

“घर पर सब लोग अच्छे हैं ?”

“जी, आपका कृपा से ” बोला विनय।

चिन्ता ने नीचे बैठे ही बैठे कहा—“भैया की छुट्टियाँ थीं। आपके यहाँ आने की तैयारी करने लगे तो मैंने — मैं भी चलूँगी।”

दादी स्नेह विगलित हो उठीं। और हरीश तो मानो पागल हो गया हो। विनय और चिंता को एकाएक आया देर कर, उसे समझ ही न पड़ता था कि क्या करे। पिछले दिनों उसने उसे बैस हा लिख दिया था कि यदि ही सके, तो चले आओ। लेकिन यह चिन्ता। चिन्ता को देख कर क्यों उसका मन सुख से भर जाता है? क्या हो गया है उसे? आखिर, क्यों उलझाये है चिन्ता? हरीश काँप गया। भातर से आकर बोला—“विनय, आओ, चाय पियें।”

हरीश विनय को लिये दूसरे कमरे में आया देखा—नौकर चाय का ट्रे रख कर चला गया था।

तभी दादी के साथ चिन्ता भा कमरे में आईं। हरीश ने इशारा किया बोला—“द्वैडिये एक प्याला आप भी।”

चिंता कुछ न बोली चुम्की-चुम्की कुरसा पर बैठ गई। हरीश ने चाय प्यालियों में दाली, फिर विनय को देकर बोला—“कब खुलेगा कालेज जनाब का?”

“आप घबरायें नहीं, हम अभी काफ़ी दिन आपके मेहमान रहेंगे।”

विनय की यह बात सुन चिन्ता हँस पड़ी।

एक ओर बैठी दादी बोली—“हरीश! पहिचाना इसे?”

हरीश ने चाय का घँट उतारते हुये कहा—“हाँ, यह तो चिन्ता राना है।”

चिन्ता ने कनसियों से देखा कि हरीश बहुत देर से उसा की ओर देख रहा था। सीधा सादा, सरल हरीश बड़ा भला लगा उसे। चिंता की आँखें नीचे मुक गईं। अधरों पर जैसे शरीर का रक्त बिलर गया हो—इतने काल हो उठे थे वे।

और अभी भातर से मुन्नी आईं चिटलाती—“भैया, खाना ठण्डा हो गया।”

हरीश जैसे आसमान से नीचे गिरा हो। खाने का वाद आ गईं उसने कहा—

“अब तो विनय बाबू और चिन्ता भी आ गये हैं, साथ ही खाऊँगा।”

मुन्ना चली गईं।

बार्ता-वार्ता में विनय न बताया था कि जब से उसने पढ़ने में हरीश का साथ छोड़ा तब से कितनी जल्दी जल्दी उन्हें पास करता चला गया। और तभी तो आज वह एम० ए० का विद्यार्थी है। कवल छ साल में एम० ए० फाइनल का विद्यार्थी। कोई साधारण मात भोजे ही है। दिन भर पढ़ना, न खेलना न कूदना। भरत, इधर उधर घूमनेवाले हरीश का साथ छोड़ देने पर ही तो यह हुनना सब कुछ हो पाया है।

विनय ने अनुभव किया कि चिन्ता और दिनों की अपेक्षा आज अधिक प्रसन्न है। सपेद गालों पर हलका मुस्कान की खालिमा दीख आई है, और आँखों में एक विशेष चमक पैदा हो गई है।

और निकट बैठी हुई चिन्ता सवमुच ही आज बहुत प्रसन्न मालूम हो रही थी। उसकी बड़ी बड़ी आँखें बार बार हरीश की आँखों से टकता जाती थीं। कहीं कुछ न पा केवल वह हँस भर देता थी। हरीश निगाह फेर लेता था लजा कर।

कि नौकर फिर आया और बोला—“खाना तैयार है।”

हरीश विनय और चिन्ता को लेकर बठ आया। दादी ने धाजियाँ परोसीं।

चिन्ता ने चुपचाप, साथ साथ खाना शुरू किया। खाते खाते विनय बोला—
“दादी को क्यों कष्ट दे रहे हो? अब की हलाहाबाद से भाभी को ले आऊँगा, मैं।”

भाभी का नाम सुन कर हरीश जोर से हँस पड़ा, बोला—“अभा क्या होगा भाभी का।”

“भाभी तो आयेगी ही।” चिन्ता ने धीरे से बात जोड़ी, ठीक वैसे ही, जैसे कोई विद्यार्थी मास्टर के सामने गलत उत्तर देने में जल्दी करता है।

विनय और हरीश दोनों हँस पड़े।

×

×

×

एक दिन शाम की चिन्ता यों ही निकल पड़ी घूमने। पास ही थोड़ी दूर पर सामने पार्क था। हरी हरी घास बहुत सुन्दर लग रही थी। पानी अभी अभी बरस कर रहा था। फूल की डालों पर स घूँटें घूँट कर नीचे गिर रही थीं, जैसे जगन् नियन्ता ने स्वयं अपने हाथों मोतियों के चुल लगा दिये हों, और जो अब हवा के हलके झंझों में नीचे गिर रहे हों। आसमान साफ़ हो चला था। सारा वातावरण मन को मोह लेनेवाला था। आकाश पर इन्द्र धनुष सतरंगे पत्तों को फैला कर छा गया था। बादल का एकाध टुकड़ा सकेन्द्र बरस के समान ऊपर उपर हवा में घूम रहा था। चिन्ता का आँखों में प्रकृति की सुपना ने एक हलचल पैदा कर दी थी। रड-रड कर हरीश की शकल सामने खिंच जाती थी। यही सी वह एक और जाकर बेज पर बैठ गई। और तभी हरीश आया, न जाने कहीं से घूमता फिरता।

आते ही बोला—“अरे, आप!”

चिन्ता चौंक पड़ी।

हरीश को देख उठने की कोशिश की। पर हरीश के मना करने पर फिर बैठ गई। निकट आकर हरीश बोला—“कहिये, आपको बनारस कैसा लगा?”

“जो, बहुत अच्छा लगा है मुझे।” चिन्ता ने उसी भाँति नीचे ताकते हुये उत्तर दिया।

“देखिये न, यह फूल कितने सुन्दर लगते हैं, जैसे बस, खोलना चाहते हों। और यह हरा लाल मखमल का सा।”

“मझे यह अच्छा लग रहा है।”—घनजाने कह दिया चिन्ता ने

चिन्ता को लगा, इरीश आज बहुत लुहा है। एक सप्ताह में कभी भी वह इतने निकट से न बोधे पाई थी उससे। कहा— आज आप बहुत प्रसन्न मालूम होत हैं ?

इरीश हँस दिया। चिन्ता भी हँस पड़ी।

इरीश पूल तटवन में खूट गया। चिन्ता बैंगी सोचती रही कि यह इरीश भी वैसा है। भैया ने तो कभी भाइयका नाम नहीं बताया था, केवल कहा करते थे कि बनारस में एक दोस्त है। तब क्या इरीश का यह प्रकृत किया करते थे। लेकिन सुभे क्या हो गया है, मरे हृदय में यह लूणन कैसा उठ रहा है ? क्यों इरीश की ओर वह रक्षा से खिंच रहा है। पहले तो घमा नहीं जाता था। इराश की भावनाओं में इतना उलझ गई चिन्ता कि उसे पता ही न चला कि क्या पूल तोड़ते-तोड़ते इराश उसके पंथ आकर रुका हो गया। और तो वह तब, जब इराश ओर से हँस पड़ा। चिन्ता ने देखा, पीछे बालों में दो गुलाब के बूँद-बूँद फूल उलझे हुए थे। बाज टोक करती सीधा हँस, वह बोली—“आपने यह क्या किया ?”

“मैंने ?”

‘हो ! पुजारी पर वहीं भगवान् भी फूल चढ़ाया करत हैं ?’

अब इराश ने सारे फूल चिन्ता पर फेंक दिये, फिर लूण गम्भार हो कहा—“भगवान् हा यदि अपने पुजारी की पूजा न करेंगे तो और कौन करेगा ?”

पाना फिर धरसन को आ गया। चारों ओर वादल घने होकर छा गये थे। चँपेरा बढ़ रहा था। चिन्ता उठ कर खड़ी हो गई। इराश भी सुपचाप खल दिया। रात भर कोई किसा से न चला। कौन जाने दोनों मूक रहते हुए भी हृदय की सब संस्पष्ट भाषा में कितना ही महत्वपूर्ण धारों का फैसला कर रहे थे। दोनों के ही दिल धक्क रहे थे जैसे कीर्त लूणन जानेवाला हो।

बीनू, चिन्ता बायीं के खाने का प्रयत्न कर द।”

“यहुत अच्छा !”

“और देव, विनय मायू भी घात हा होंगे, उनके लिये भी। और मेरे लिये भी।” बाहर से आते ही इराश ने कहा।

दादी हँस पड़ी। फिर कहा— तरे ऐसा जापरवाड तो देवने में नहीं आया। घर में आज मेहमान, और लू है जो न जाने कहीं माता मारा फिरता है। न छिलाने को फिर, और न पिजाने की चिन्ता। दल, बेचारी चिन्ता का फूल-सा चहरा पन्द्रह दिनों में ही कैसा कुहला गया है !”

इरीश खँका।

चिन्ता के दुख की बात थी, साथे मन में लगी। सब हा तो दादा कह रही हैं। हम दिनों वैसा उसका चहरा उतर गया है। यह कौन कर भातर आया। दखा, चिन्ता

अस्त-व्यस्त सोफे पर पड़ी है। दूध के समान सफेद चेहरे पर एकाध लज्जित बिखर आई है, जैसे कहीं से चाँद का एक छोटा सा टुकड़ा किसी ने खाकर रस दिया हो और आँसुओं पर कुछ ऐसी जालिमा बिखर गई है, जिससे वह और भी सुन्दर दीखने लगी है। हरीश बड़ा देर तक खड़ा विधि की इस अप्रूप सुन्दरता को निहारता रहा। सहसा दादी ने पुकारा—“चिता !”

चिता की निद्रा टूटी। हड़बड़ा कर उठ बैठी। सामने हरीश को देख, खज्जा से फट गई। साड़ी ठीक कर बोली—“आपको अभी सरला पूछ रही थी।”

“सरला !”

घात हलके दोहराई था हरीश ने। सोचा—सरला क्यों आई थी, जब उसने कहला दिया था कि वह दो-तीन दिनों में स्वयं आवेगा। तब फिर क्या काम पड़ गया उसे ? पिता के देहान्त हो जाने पर, अपनी माँ को ले सरला उसी के घर पर आ बसी थी। और हरीश सरला को कथ अपने को रोक सका था। खूब सुप्त छागा था उसे पाकर। भोली भाली अलहद सरला ने मन उसका जीता था। दादी ने कहा था एक दिन—‘हरीश ! सरला को अपना ले, ऐसी लड़की भाग्य से ही मिलती है।’ और देखा हरीश ने भीतर जाती हुई सरला के मुँह पर हलकी हँसी बिखर गई थी। जैसे सरला के समझ न हो न आया हो कुछ, ऐसी वह बन गई थी। कितना ध्यान रखती थी वह उसका। एक दिन वह ज़रा भीमार पड़ा, तो दूसरे ही दिन सरला को लोगों ने उदास पाया। हरीश ने सिर में दर्द होने की शिकायत की, तो सरला ‘यूडीक्लोन’ की शीशी ले आई। पट्टा भिगो कर मस्तक पर रखी, आदिरता से विस्तर के प्रति निकट आकर बोली—‘ओर, आप दर्द की शिकायत करते हैं। भला, आपको दर्द न होगा, तो क्या मुझे होगा !’ फिर विस्तर पर से कितानें सर काती बोली—‘जय अच्छे हो जाइयेगा, तब पढ़ियेगा !’

सरला ने कितानें उठा कर आलमारी में रख दीं।

हरीश उसकी ओर देख, केवल हँस भर दिया था।

चार दिन बाद वह आफिस जाने की तैयारी करने लगा, तो देखा—सरला सीधे तन कर दरवाज़ा रोके खड़ी है। अधिकारपूर्ण स्वर में बोली थी वह—“आप नहीं आप आफिस जायेंगे।”

‘क्यों ?’

“सरला का हुक्म है। देखिये न, अभी आप किसने कमज़ोर हैं ! कल ही तो सुन्नार टूटा है। ज़रा भी पिकर नहीं करते आप अपने स्वास्थ्य की। यदि कहीं कुछ हो पाये, तो ”

आगे सरला की आँखें भर आई थीं। उन यकी यकी, काली काली आँखों की वह अवहलना करे भी ता कैसे ? जैसे बरसात उमड़ आई हो ऐसा हो गई थीं वे आँखें। हरीश थक कर बैठ गया कुर्सी पर। वह क्या करे, कैसे कहे सरला से कि आज आक्रिस जाना जरूरी है। हराश को पैंग दख कर निकट दीव घाई थी, फिर कोट उतार खूँरी पर टाँग दिया था उसने। चारपाई बिछा कर घब बोली—‘अभी आप आराम काजिये, मैं जाती हूँ।’

इस सरला के सामने हराश द्वार गया है। सरला न अपने अनुरागको एक गहरी, स्पष्ट रेखा खींच दा या हरीश के मन पर।

दो महाने बाद सरला के एक निकट सम्बन्धी आकर, हरीश और दादी के अत्यधिक मना करने पर भा उसे अपने यहाँ ले गये। वह महाशय किमा स्कूल में अध्यापक थे। शहर में ही दूसरा मकान ले रखा था। एक खूबसूरती सम्बन्धी में सरला जब दादा के पैर छूकर अपनी माँ के साथ बिदा होने लगी, तो हराश कमरे में बैठा न रह सका था। दूर बहुत दूर एक स्वप्न सी विज्ञान होती सरला को उसने राते बिजलते तिरुका के सीखचों के उस पार, जहाँ दुनिया का प्रत्येक प्राया स्वतन्त्रता एक भल फिर सकता था जाते दखा था।

चिन्ता की वैसे हा खड़े नेव, अब हरीश चौंका, अपने में थाया। सरला का विचार भग हो गया, कते हुये बादलों के स्फेद गोलों की भीति भारतवाशों के थपेहों से बहुत दूर उड़ गया जैसे।

और चिन्ता !

मारा, उदास, गहरे आचकार से पूरा मन लिये चिन्ता कमरे से निकल गई थी। साधता—वह सरला कौन है ? हरीश के मान-उत्त पर क्या उसने भी कभी अपना नन्हा सा पौसला बनाने का हरादा किया था ? क्यों हराश उसको विचार धाराओं में थाया ? तभी मन में एक छोटा, बहुत छोटा बुलबुला उठ और सरला के नाम के साथ हरीश के मन के निकट पहुँच फूट गया। चिन्ता चकित त्रिस्मित, गम्भीर थी। को चौंधी अनायास सरला उठा लाई थी, उसे कैसे हटाये चिन्ता ? चिन्ता ठिठक गई, कुर्सी का सहारा लिया। गिरते गिरते यकी !

‘क्या हो गया चिन्ता ?’ पूछा हराश ने।

कुछ नहीं, यों हा चकर सा था गया, तबाधत ठीक नहीं है।’

हराश यौह कर निकट पहुँचा, बोला—‘डाक्टर की बुलाऊँ ?’

चिन्ता ने कमरे का रुदियों की ओर देखते हुये कहा—‘डाक्टर मेरा इलाज नहीं करेगा !’

हरीश आश्चर्य चकित रह गया। बोला—‘तुम क्या कहते हो, चिन्ता ?’

चिन्ता चुप रही। क्या कहे यह? कैसे कहे, दिल में दर्द पैदा हो गया था। योली—‘काश्र मेरा मज़ नहीं पहिचानेगा।’

हरीश बिलन्ताया—‘चिन्ता।’

और अब चिन्ता ने ब्यया से मुँह दूबरी चोर फेर लिया था। थोँलें उसही भर आई थीं, यरसात उमड़ आई था, जैसे अब रोई—अब रोई।

‘हरीश भैया!’ मुन्नी था गढ़ थी, बात टूट गई। वह योली—‘बिनय भैया बुलात हैं।’

हरीश चिन्ता को छोड़ दूसरे कमरे में आया। देखा, बिनय सामान बाँध रहा है। देखते ही बोला—‘यह तैयारा कहीं की हो रही है, भाई?’

बिनय हँस दिया, बोला—‘अब तो छुट्टी खरम हो गई!’

‘ओह, तो यह कहिये कि जनाव तैयारी कर रहे हैं जाने की।’

बिनय झोर से हँस पड़ा—इतने ज़ार से कि भीतर बैठे बिल्ली चौंक कर बाहर भागी, और मफ़्ट कर दूर निकल गई। एक चोर से दादी बोली—‘मैं तो रोकते रोकते थक गई। कहता हूँ तार ही दे आओ।’

हरीश ने दादा का सहारा पाया, निकट पहुँच, बिनय का विस्तर खोजते हुये बोला—‘बलो भाई, तार दे आये, अभी आये हो। कम से कम पन्द्रह दिन तो और दको।’

अन्दर नज़र गइ। चिन्ता ने हँस कर मुँह फेर लिया था। पोस्ट आफिस से जब वह लौटा, तो देखा, चिन्ता ने साढ़ा बदल ली थी। हलके नाखे रंग का फामदार अनाठज़ और पैरो में चप्पल, बहुत डलभनी लगी चिन्ता। हरीश ने देखते ही पूछा—‘शहर चलियेगा?’

चिन्ता हँस कर अन्दर भाग गई, कहती—‘भैया से पूछिये, मैं क्या बताऊँ?’

आखिर शहर का प्रामांय बन गया। चिन्ता ने कहा, उसे साढ़ा खेनी है।

बिनय भी बोला—‘उसे घड़ी का प्रीता बदलवाना है।’

ताँगा आ गया था। हरीश बिनय और चिन्ता के साथ चल दिया शहर की ओर। रास्ते भर हरीश बिनय से घुल घुल कर बातें करता रहा। जैसे बस, आज के बाद बिनय मिलेगा हा नहीं। बातें करते करते हरीश कालियों से चिन्ता को दख लेता, चिन्ता हँस कर नीचे देखने लगती, पूसा उसे कुछ भी मालूम नहीं है।

शहर आ रहा था, दूकानें शुरू हो गईं।

हरीश ताँगा खड़ा कर, बिनय और चिन्ता के साथ उतर पड़ा। एक कपड़े की दूकान पर चिन्ता खड़ी हा गई। सादी खेनी थी, दूकानदार ने सादियों का

देर लगाना शुरू किया। चिन्ता बारी बारी से साक्षियाँ देगती जाती थी बीच बीच में हरीश की ओर देख, सादी अपने बिलकुल सामने कर—जैसे पहिने हो, बहुत धीमे स्वर में पूछ भी लेती—'बैती लगती हूँ।' और हराश क 'बहुत सुन्दर' कद देने पर एक विचित्र गुदगुरी दौड़ तानी उसके दिल में, आँसू चमक उठती, और सुलें ऐसी हो जाती, जैसे पके सेब। तभा बिसा ने पुकारा—'हरीश ?'

हरीश चौंक पड़ा। यहाँ कौन परिचित है, जो उसका नाम लेकर बुला रहा है ? किन्तु स्वर कुछ पहिचाना सा लगा। और तभा खड़ी हो गई भाव से आकर एक भाली भाली अलहद दुवता। हराश ने सजुचित होकर कहा—'भरे सरला—मुम !'

सरला खिलखिला कर हँस पड़ा। बोली—'माँ के माय आई थी चण्णल लेने। आपको दस्ता ।' फिर चिन्ता का हाथ पकड़ कहा—'भरे, चिन्ता आप भी !'

चिन्ता ने केवल मुँह फेर कर कहा—'हाँ !'

मन उसका बैठा जा रहा था। एकाएक जो आग सरला लेकर था पहुँची थी, वह अब जल रही थी—ऐसी, जिसमें चिन्ता की दुनिया ही ज्वाक हुई। जा रही थी, जैसे यदि उसके पल होते, तो एक पक्षी की तरह वह पुर से उड़ कर इस आग से मच जाती। घना आँधेरा छा गया था—जैसे रात हा हो गई हो। गिरते गिरते कई जगह बची चिन्ता, आँसू उसकी भर आई था।

सरला ने हरीश के बिलकुल निकट पहुँच कर उसे छूकर कहा—'आप रजें, मैं आभा आती हूँ ! माँ से कह दूँ, वह प्रतीका कर रहा होंगी, तब चलें !'

और इसके पहिले कि हराश कुछ बोले—सरला भाग कर भीड़ में खो गई। जब निकली, तब पाया इतजार करते उसी स्थान पर हराश को तौंगे में बैठे, विनय और चिन्ता के साथ। प्रसन्नता से उसका मन नाच उठा। कितने दिनों के बाद अपने इतने समीप से देखा है हराश को ! सरला चुपचाप चिन्ता के निकट पिड़ला सीट पर बैठ गई। तौंगा चख दिया।

और चिन्ता का विचित्र हाल था। मुँह उसका एकदम सफेद हो गया था जैसे चर्च का एक छग टुकड़ा हो। यह देख हरीश ने पूछा—'तवागत क्या ठीक नहीं है चिन्ता ?'

'जी, कुछ ऐसा ही सिर में दद है !'

सरला चौंका। हरीश को देखा—और वह तो बराबर चिन्ता की ही ओर देख रहा था। सरला अपने में खो गई थी। मन उसका खूब धुँसे भर गया था, फिर भी बोली—'दीदा खे' जाइये, आपका सिर दया दूँ !'

और चिन्ता क्या कहे ? जी करता था कि कहीं दूर—बहुत दूर भाग कर पहुँच जाय । वहाँ उसके हृदय को चैन मिलेगा ? शायद कहीं भी नहीं । मर्ज़ तो बिजजुल उसके निकट सरला का रूप लेकर बैठा था । चिन्ता को चुप देख, मस्तक पर हथके हाथ रख कर सरला बोली—“क्या हो गया है आपको ?”

“मुझे ?”

चिन्ता की घायल, मूक आँखें एक बार ऊपर उठीं, जैसे सरला की नस नस में घुस कर वह उसका भेद ले लेंगी । कौप गई सरला । धारे स आँठ काट लिये । उसके बाद रास्त भर कोई बात नहीं हुई ।

तर्गि जय हरीश के दरवाजे पर पहुँचा तो बहुत देर हो गई थी । घर्ग में चिरागा जल चुक थे, और बाहर दरवाजे पर बैठे कुत्ते किसी आहट को पा बार बार भौंक कर चुप हो जाते थे । तर्गि से उत्तर कर चिन्ता हरीश, सरला और विनय के साथ अन्दर गई । फिर जल्दी ही खाना खाकर सोने की तैयारियाँ होने लगीं ।

और सरला को रात भर नींद नहीं आई । रह रह कर हरीश और चिन्ताकी सजाय छाया में घुँके समान कुल्ल आकर आँखों में फुहारें छोड़ जाता था । तो क्या सच हरीश अथ । सरला कैसे लंटे ? अथ वह उठ कर बैठ गई थी । जी न लगा—दरवाजा खोल बाहर आई । पास ही हरी हरी घास पर टहलती फूलों से भरे गमलों के निकट आई । आसमान साफ़ हो गया था । चाँद निकल आया था । दूर तक सफेद चाँदनी बिछी थी—शीतल, सुखद । हरीश के कमरे से हलका प्रकाश आ रहा था—जगा, जैसे हरीश कुछ जोर जोर से बोल रहा हो । साहस कर निकट पहुँची । त्रिहका खुली थी, देखा हरीश चारपाई पर जटा था और सामने बैठी थी एक युवती । प्रकाश के उस हलके पुञ्ज में भी सरला ने चिन्ता का वह गोरा, सुदीर्घ चेहरा पहिचान लिया । सरला पापाणवत् हो गई, वहीं खड़ी रह गई । चकर आते आते पचा उसे । दीवार का सहारा न लती, तो शायद गिर पड़ती । दूधे पाँव धारे—बहुत धीरे अपने कमरे की ओर बढ़ी ।

सुबह जय जोगों ने उसे देखा, तो बहुत तेज़ बुझार चढ़ आया था । हरीश घबरा गया । क्या हो गया है सरला को । दीदा-दीदा डाक्टर को लाया । फिर सिरहाने बैठ, मस्तक पर हाथ फेर पूजा स्नेह से—“कैसी तबीयत है सरला ?”

सरला चुप रही ।

और बाहर से चिन्ता ने देखा—हरीश सरला के सिरहाने बैठा है । आँखें उसकी सजल हैं और आँठों पर एक विचित्र प्रकार का भाव पैदा है । चिन्ता पापाणवत्

हो गई हो जीव, वहीं रुकी रह गई। पत्थर आने धाते पथी यह। दोवार का सहारा न लेती, तो शायद गिर ही पड़ता। दय पाँव धारे—बहुत धीर बड़ा यह धरने कमरे को घोर।

दूसरे दिन जब हरीश डाक्टर को खाया, तो खोंगों को पता चला कि पि ना को भी बहुत तेज उबर हो गया है।

हरीश और विनय दोनों हाँ दवाई पर रह हैं। राज डाक्टर बदले जा रहे हैं। उनका कहना है—सरला और चिन्ता का कोई गहरा मानसिक धक्का खगा है।

डाक्टर राज जाता है। चिन्ता और सरला का टेम्परेचर लेकर दावार पर टेंगे थर्मो पर नोट द देता है। कौन जाने, मन की गरमा भा यह थर्मामीटर नाप सकता है। बहुत दिना हो गये हैं सरला और चिन्ता का इलाज वसी प्रकार हो रहा है; अन्तर कयल इतना हुआ है कि डाक्टर बदल दिये गये हैं। न जाने कब तक सरला और चिन्ता भण्डी होंगी। भण्डी होंगा भी या नहीं ?

इलाज खल रहा है।

जब टेम्परेचर नहीं रहता, किन्तु मन पर एक भारा खदासी रा भरी सामारी डाक्टर बताते हैं।

इलाज अब भी खल रहा है।

घाकर। स्पर्श की कोमलता से सौदामिनी चौंक पड़ी थी। फिर हलके ट्योल कर बोली थी—“बिज्ञो, पुप्पा, सरखा !”

और तब एकाएक खिलखिला कर किसी ने उसकी गोद में बैठते हुये कहा—
“अरे ! नहीं, मैं हूँ शकुन्तला ।”

सौदामिनी खिलखिला कर हँस पड़ी।

“तू भी खूब है, भैया कहाँ हैं तेरे ?”

“वह क्या बाहर से सामान ला रहे हैं ?”

शकुन्तला एक घायल पक्षी की भाँति सौदामिनी के सीने से चिपक गई। फिर बोली—“एक भा पत्र नहीं भेजा मुझे, और भैया !”

सौदामिनी ने हँस कर शकुन्तला के गालों पर एक हलकी चपत जड़ दी, वे और भी सुख हो गये।

और तभी भीतर से आ गया—कमल !

शकुन्तला को देख, वह ठिठक गया। गोरा शरीर, इकहरा बदन, पैरों में चप्पल; बड़ी सुन्दर लगी वह। और तभी कमल को देख, उसकी ओर इगारा कर बोली सौदामिनी—“इन्हें जानती हो ?”

शकुन्तला चौंकी। अपने प्रति कहे गये वाक्यों की मीमांसा वह क्यों करे ? संमल कर गोद से नीचे उतरते बोली—“नहीं !”

और तब बताया सौदामिनी ने—“वह हैं मिस्टर कमल ! आपके भैया के बड़े दोस्त !”

शकुन्तला ने उठ कर निकट पहुँच, धीरे से कहा—“तमस्ते !”

कमल धीरे स मुस्करा दिया।

तभी सौदामिनी बोली—“और एक बात बताऊँ ? यह बड़े भारी चित्र कार हैं !”

सबी हुई सौदामिनी की ओर देख कर बोली थी शकुन्तला—“तब तो आपकी अवस्था हा !”

“जुप !” सौदामिनी नाराज़-सी हो गई थी। बोली—“वह हैं शकुन्तला, मिस्टर कमल ! और आप हैं दुष्पन्त ! कहीं उन्हीं की भाँति !”

शकुन्तला खूब खिलखिला कर हँस पड़ी थी।

और कमल ने तब शकुन्तला का मुँह खजा से छाक होता पाया था। रात कागना खाते बताया था सौदामिनी ने—“शकुन्तला की वह भाभी खाती है। चार दिन हुये, वह अपने घर गई है।”

कीजिये । कल रात हो तो आपकी छाती में भयङ्कर दर्द हुआ था । सुबह गौंसी भा खूब आई था । जाने कितना विरानापन छिपाये हैं आप अपने मन में ! यदि मैं न आता, तो न जाने कितना देर तक आप यों ही बैठे रहते ।” कहते कहते वया ने कमल के दोनों हाथ पं०५ लिये, फिर उन्हें धीरे धीरे अपने गालों से जगाकर बोली—
‘देखिये कितने गम हैं ! मैं जो कहनी था, आपको सुझार होगा । खडिये, खेटिये, चल कर ।’

कमल ने इनकार न किया । घुरघाघ उठ कर वाया के साथ चल दिया ।

रात में वाया ने सुनाया वह अजित के साथ घूमने गई था । तिलतिलाता अजित उसे बहुत भन्ना लगा था और वह गात, वाया का अथ सहारा देने लगा । रशामा के सीने से तब वह बच्चों की भौंति विपक गई, फिर भी कमल ने अनुभव किया कि रात भर वाया कांपती रहा है ।

इस पहाड़ा प्रदेश में कमल को आये छ मास हो गये हैं । इस बीच वह कुछ स्वस्थ हो चला है । यद्यपि खौंसी अब भी कभी कभी जोर पकड़ लेता है । टेम्प रेचर भा हो जाता है, फिर भी वाया की अनुभव हुआ, जैसे वह अब पहले की अपेक्षा अधिक स्वास्थ्य लाभ कर रहा है । किन्तु पहाड़ा जल वायु, डाक्टर की तत्परता और वाया की देख भाल के बाव भी कभी-कभी कमल के मन में एक हलके से दर्द का अकुर पृष्ठ पड़ता था । तब कई-कई दिन वह बहुत बचन रहता था । खौंसी भी बढ़ जाती और सीने में दर्द अधिक होने लगता । शकुन्ता की माद बिबर जाती । वह सत्रह साल की अस्त व्यस्त नारा उसे पृथ उलमती जगती तब । मन में लगा—वह नारा अनजाने हा अपना सब कुछ दे गई था एक दिन । और यों ही न जाने किस प्रकार शकुन्ता ने एक दिन उसके मन में पल खोलकर छोटा सी उदान भर दा थी ।

सौदामिनी का बात भा वह कहीं तक टालता ? अपने रिश्ते को वह स्वयं समझती थी—खूब ? उस सौदामिनी ने उसके लिये कोई सुख उठा कर नहीं रखा । घूमते फिरते एक इन्त के लिये वह उसके घर भा पहुँच गया था । एक दिन रात को बड़ा देर से घर आया, तब सौदामिनी ने सवालियों की कड़ी लगा दी थी । फिर स्नेह विगलित हो कमल के बिलकुल निकट पहुँच कर थोड़ा सा हँस, उसके सिर व बालों को टाक करते बोली था—‘आपको मेरा भा कुछ प्याल है ?’

सौदामिनी का बहुत सा बातें उसके पास जमा हो गई थीं । उस निकट खड़ी सौदामिनी को तब उसने हाँच कर याहाँ में कस लिया था । और स्नेह तथा आनुरता का सहारा पा, उसकी बड़ी बड़ी आँखें सजल हो आई थीं ।

और एक सभ्या का सौदामिनी की आँखें किसी ने बन्द कर ला थीं, पाछे से

सारा शरार सूख कर लकड़ी सा हो गया था। कभी कभी रात में सूख व्यास खगती थी। और दिन चारपाई पर लेटे जेठे निकल जाता था। पीछे कई महीने बाद डाक्टरों ने पहाड़ पर ले जाने की सलाह दी। और वीणा को लेकर वह इत्तोजिये तो यहाँ आया था।

रात वाणा ने अनुभव किया, कमल बराबर पीड़ा से कराहता रहा है। रह-रह एक हलकी, किन्तु तेज़ चोंच जैसे अनायास ही निकल पड़ती थी। और सपने डाक्टर ने आकर कहा—“वीणा देवी किसी और डाक्टर को भा दिवा खीजिये, तौ अच्छा हो।”

“डाक्टर !” वीणा गिरते गिरते बर्षी। समीप के कमरे से अजित ने आकर सँभाला।

और तभी कमल को फिर ज़ोरों से ज़ोंसी आई। बाहर के एक घस्त हवा के झोंक ने सहसा प्रवेश कर मंज़ पर फैले उम अचूरे चित्र को उड़ा कर एक ओर गिरा दिया। अजित ने चित्र उठा कर मेज़ पर फिर से जमा दिया। बर्षी देर तक चित्र पर बनी अप्रूप नारी को वह निरखता रहा। तब अपने निकट भारा दु ख धिरता पाया था उसने। अजित ने देखा, कमल इशारा कर रहा था। वीणा से बोला—“आपको बुना रहे हैं।”

और वीणा ने तब निकट पहुँच कर कमल के मस्तक पर हाथ फेरते हुये कहा—“आप ठीक हो जायेंगे स्वामी।”

और उत्तर में कमल फूट-फूट कर रो पड़ा।

शकुन्तला का याद ताज़ी हो गई था शायद। वीणा ने लेटे हुये स्वामी के सीने में मुँह धिपाते हुये कहा—“आप वह सब क्या कहते हैं, स्वामी ?”

लेटे हुये कमल ने अब अनुभव किया कि यह वाणा भा बहुत महँगी पड़ी। फिर उसे हृदय से मटाते बोला—“चित्र अचूग रह गया, वाणा ! उस शकुन्तला की दे देना।”

सहसा बीच में वह भुंक गया, बड़े ज़ार से खौला आई थी। वीणा ने चरखों पर सिर रख दिया था। अब वह फूट फूट कर रो रहा थी।

और तभी हलके-बहुत हलके सुना वीणा ने—कमल गा रहा था—

घर घर में दिवाली है मरे घर में शँभेरा !

वीणा चरखों से आर भी ज़ोर से लिपट गई थी, जैसे कहीं वह उठ कर भाग जायगा। फिर उसके दोनों हाथ पकड़ कर यात्री—“मेरे देवना ! इतना तौ न करो !”

किन्तु कमल गाता ही रहा—गाता ही खला गया।

रात भर कमल को नींद नहीं आई। रद्द रद्द कर शकुन्तला का अदृश्य चित्र शीशों में भूँज उठता था। तब क्या वह सौदामिनी को केवल एक सदास मात्र ही मान ले ? क्या वेज आदिर रख गई है सौदामिनी उसका निकट ! शकुन्तला की यही हरिणी के समान चञ्चल शीशों उप शून्यता को भंग कर देती थी। जैसे कहना चाहती हो— मैं क्या जानूँ, और आर मेर पाछे हतनी पुरा तरह से क्यों पड़े हैं ?

अब कमल ने ठठ कर विदही खोज दी था। साकू चाँदा का चादर-नी बिछी थी दूर तक। उमा चाँदनी म शकुन्तला का स्वर धाखा दे रहा था।

उस एकांत रात में तमा कई चिट्ठियाँ उसने लिखीं शकुन्तला को। फिर वे सब मृग जगा। फाड़ डाला एक-एक कर उन्हें। आत में एक चिट्ठा लिखी भी—

शकुन्तला,

मुझे समा करना ! जो मैं तुम एकदम समा गई हो—हतनी कि मध, उसमें तनिक भी स्थान अब शेष नहीं है। बाहता था, चञ्चले समय मिल जेना कि-तू। मेरा याद रखना। अरुणा ! धीसे मैंने अपना सब कुछ देने में यक्षाना नहीं किया है। मेरा प्रताषा मत करता। सौदामिनी ने जो खेज खेला है, इन प्रमाणों के निकट उसे कैसे भुलाऊँ ? मैं इसी रात यहाँ से जा रहा हूँ।

—कमल”

और उसी रात कमल चुपचाप अपना कोट पहिन कर वहाँ से चल दिया था।

चार महान याद एक दिन सौदामिनी ने लिखा—

“शकुन्तला को छोड़ कर यों ही चले जाओगे यह सोच कर शकुन्तला फूट-फूट कर रोती है। आखिर क्या था जिसे आपने हम लोगों को बताया भा नहीं ? शकुन्तला की शादा की बात बात चल रही है कि तु यह बराबर इनकार कर रहा है। मेरी ह-त्रा है कि जब आपने अपने मन को उसके लिये उठा कर नहीं रखा, तब शकुन्तला यहाँ क्यों न स्थान पाये ? बहुत दुबली हो गई है वह। आपका नाम बराबर लिया करती है। क्या आप उसे प ही रहने देंगे ? सोलिये, उत्तर दीजिये।”

और पाछे एक माह याद शकुन्तला की चिट्ठा थी—

“सौदामिनी ने जो खेज खेला है मेरे साथ, उसे कैसे भुलाऊँ ? आपको ठीक से देख भी न पाई। आपका पत्र पास है। जब मिलियेगा, तब त्वर भगदा करूँगी। अभी नहीं।”

कमल ने छोटे ही छोटे लेख गुमा दिया। फिर तकिये से मुँह छिपा कर फूट-फूट कर रो पड़ा।

अब कमल को खूब खोसी आन लगी थी। हलका टेम्परेचर भी हो आता था।

“जी, मैं रेखा !”

और हँस कर खिलखिलाती हुई वह भीतर भागी। वह सुन्दर नारी मन घँटाती ज़गी निर्मल को।

दो दिन बाद निमल के कहने सुनने से माया ने फोटो खिंचवाने की तैयारी की। दोपहर से सब ने खाना खाया। शाम को खान में फोटो खिंचवाने की बात तय हुई। तर्गा मँगाया गया, अन्य लड़कियों के साथ रेखा भा बैठी। भगवती सीट पर निर्मल था। लड़कियों के बीच रेखा का वह अस्त-व्यस्त गौर शरीर भा बुझाता जगा। बड़ी सुन्दर दिखाई पड़ी रेखा उसे। जल की शीतल छहर के समान रेखा का सौंदर्य निर्मल के हृदय को छु गया। जैसे किसी ने मन्त्र मुग्ध कर दिया हो, ऐसा हो गया वह। रास्ते में अपनी विवशता समेटे, निर्मल ने कई बार चाहा कि उस निकट बैठी रेखा से बातों का सिबसिबा जोड़े, किन्तु चुप ही रही वह।

खान पर पहुँच कर, एक झाड़ी के सामने फोटो का कार्य क्रम बना। तभी याद आया, रेखा कहाँ है? और सच ही तो रेखा यहाँ नहीं थी। विवश हो, तन्नाश शुरू हुई। खान की सारी भाड़ियाँ देख झाँकी गईं। नदी का रेतौला किनारा भी हँका गया, किन्तु रेखा न मिली, साथ की लड़कियाँ हेरान थीं कि आखिर गई कहाँ रेखा!

और सभी निर्मल घूमते-घूमते एक झाड़ी के निकट पहुँचा। हरी-हरी पत्तियों के बीच फूल खिले थे बहुत से। और उनके बीच ठीक फूलों-सी ही रेखा को पाकर वह चौंका, बोला—“आप यहाँ?”

रेखा जैसे जाज से गढ़ गई हो। अधरों पर खाली दौढ़ आई थी। सँभल कर बोली—“कुछ नहीं, ऐसे हा चली आई थी। सोचा था, आपको क्या दूँ!”

“मुझे?”

रेखा झाड़ी से बाहर आ चुकी थी। साड़ी ठीक कर, नाचे साकती बोली—“मैं आपका नाम अकसर जिया करती थी। आप बड़े भावुक और अच्छे हैं?” आगे बात छोटी सी मुस्कान में खो गई।

रेखा को हँसी ने निमल के हृदय पर अधिकार जमाया। जैसे उस शारदत रेखा की हँसी में उसका कण-कण सो जायेगा। रेखा की तरल हँसी को छाया में उसे ऐसी नींद प्रतीत हुई, जिसमें प्राणों का कम्पन अपनत्व समेट कर क्षिप जाना चाहता है। उस जैसी सरल और स्नेह सिग्ध नारी, उसने कहाँ देखी थी? जागरवाही से साड़ी का एक छोर कंधे पर ढाले, बाजों का चोटी का फाता मुँह में दबा कर खड़ी हुई रेखा के चरम सौन्दर्य को निर्मल ने इतने निकट से आज पहला ही बार देखा था। उस अघाहित गतिहीन विवशता का सह, में वह कैसे उतरे? चाहा था निर्मल ने कि मन

प्रकाश की खोज

निर्मल ने खिड़की खोल दी। घने फँसे हुये दूर तक अन्धकार में वे धमकती बिजली की बलियाँ और भी प्रखर हो उठीं। उनके चारों ओर सीमित प्रकाश से बिल्कुल खगा हुआ छँधेरा! सामक कर निर्मल ने खिड़की बन्द कर दी। अब वह अपने जीवन का मीमांसा कर लेना चाहता था—बस! जीवन, जिसमें नारी प्रकाश लेकर आती है। ठाक उन बाहर की बलियों की भाँति जगमगाहट होती है उस जीवन में। कितना अन्धकार दूर करता है वह प्रकाश! किन्तु प्रकाश के समीप ही छँधेरा निर्मल सोते से जागा हो जैसे। अन्धकार की बात देर तक मन को उलझाती रही। तब प्रकाश का महारब क्या धोखा मात्र है? बहुत बहुत सा धाँसँ भाकर निर्मल के सामने फैलने लगीं। उसकी चबलती फिरता दुनिया में अनेक स्मृतियाँ पल खगा कर न जाने कहाँ से आ गई थीं। और तभी निर्मल के मन को जैसे किसी घने अन्धकार ने छू लिया हो! रेखा जैसे सामने बिखर गई खिळा खिळी। विचारों का बाँध टूट गया था। तब क्या था कि किसी दिन जीवन में सिद्धता आज से गहती इस रेखा के समीप ही अन्धकार है। काबेज की अद्वारदीवारी में बैठे-बैठे अनायास ही उसका नाम मन में लुढ़ने लगा था। निर्मल ने कोई बहाना नहीं बनाया उसके सामने।

यह नाम बार-बार पास बिखरता दो काळी काळी बड़ी भोळी आँसों की रचना करता-सा खगा निर्मल को। माँ के मुँह से सुना हुआ नाम, जब पानी की तरह उसके रोम रोम में बहने लगा, तब कहाँ निर्मल को इसका ज्ञान हुआ। और एक दिन इसी ज्ञान से प्रेरित होकर उसने अन्य सम्बन्धियों के मना करने पर आ जाने क्यों रेखा को अपना जीवन सौंप देने का निश्चय कर लिया।

सुदियाँ हुई, तो वह माया के घर आया था। सोचा, खजो, दस पाँच दिन वहीं रह आय। एक सवेरे सोकर उठा कि धरामदा पार करते उस भिन्नमित्त प्रकाश में एक हलका सा घंटा खगा। तभी जैसे किसी ने कहा—“श्रोत्र! आप हैं, मात्र कीजियेगा।”

अनायास शरीर की उस सिहरन से निर्मल का मन दूध गया, थोड़ा मूटपट—
“आप कौन हैं?”

भारी खिलखिलाहट से चौंका था निमल । सँभल कर बोला—“चलिये, ज़रा यों ही आ गया था । सोचा था क्या हूँ आपको ?”

रेखा पर बात कही गई थी । रूख लगी उसे । अपने से घड़ बाहर गई क्यों ? नारी की मर्मांश उसने तोड़ी है, बहुत बहुत शरमा गई वह ।

और फोटो के लिये लान के बीच में खड़ी धन्य लड़कियों के साथ रेखा ने हाथ उठाया—जैसे कहना भर चाहता हो कि रको जी, मेरा फोटो मत लो; किन्तु निर्मल ने स्विच दबा दिया । फोटो खिंच गया था ।

घर लौटते समय कारो देर हो गई थी । घना घँघेरा छा गया था । चारों ओर गहरी कालिमा छाने लगी थी । देर हो जाने से ताँगा भी नहीं मिला । विवश हो पैदल ही चलने का निश्चय हुआ । नदा का रेताला किनारा, नीचे बड़ी बड़ी घास, सुनसान वातावरण, धँधरे से ठँका शस्ता । रेखा पीछे छूट गई थी । एकांत था, निमल ने कहा—“मेरा हाथ पकड़ लीजिये, कहीं टोकर न खा जाय ।”

और रेखा ने हनकार नहीं किया । चुपचाप आगे बढ़ते निर्मल के बलिष्ठ हाथ को ग्राम लिया । फिर बहुत निकट आ, बोली—“देखिये, आपने मेरा हाथ पकड़ा है, कहीं फिर धोखा ”

और उत्तर में रेखा ने पाया कि निर्मल ने और भी ज़ोर से उसका हाथ दबाया था । किन्तु फिर किसा अज्ञात आशंका से तुरन्त ही चौंक कर बोला—“मैं तो मुंहारा हूँ, रेखा !”

यह सुन, रेखा न उस आगे बढ़ते हुये निर्मल से सट जाना चाहा । हृदय उसका वेग से धड़क रहा था, सारा शरीर पसीने से तर था, वह चुप रही । लड़कियों निकट आ गई थी । आगे बढ़ गई रेखा और उन्हीं में खो गई ।

और एक दोपहर को रेखा के भाई ने एक चिट्ठा लाकर दी । निर्मल ने लिखावट पहिचानी, रेखा ने भेजा थी, लिखा था—

“मुझे माफ़ कीजियेगा । कल का बात मन में खूब लज्जा भर लाती है । रात भर नींद नहीं आई । आपकी याद क्यों इतनी आई, समझ में नहीं आ रहा है । फिर भी मन हलका हलका है । हाँ ! सच, उसमें कहीं भी भारीपन शंभ नहीं है । जैसे जो बोझा था, उसे आपने उतार लिया हो । मों की इच्छा है कि आप मुझे अपनी ! क्या आप मुझे स्थान न देंगे—लिखिये ?”

निमल ने पत्र मोड़ कर जेब में रख लिया । फिर सिगरेट जला कर विचारों में डूब गया, सोचा, आ खर क्या पहेली-सी बनी रहेंगी ये सब बातें ? और रेखा ही उसे क्यों उलझाव है । अपना जीवन किसी पुरुष की छाया के नीचे सुला देने की जो

का काई काना साखा न रह जाये। चाँखों के मध्य उगरे कर रखा ठाक हृदय में प्रवेश करता-सा लगता। लमा पादु हाथों में पूत्र दम्भ, निर्मल ने पूजा—“और ये पूज ?”

घोरी पकड़ा गई थी। रेखा शरमा गई। फिर पूर्वों न भरो हुए हाथ का एक सिरा दाँतों से दबाती, घोषा हँस कर बोली—“मेरा भेट हसीकार करेगे धार ?”

“भट ?”

“उर खागता है, कहीं आप हुनकार न कर दें।”

“रेखा !”

“नहीं, पहले वचन धीजिये।”

“रेखा, मैं ।”

बाबू काटा रेखा न, कहा—“कितने सुन्दर हैं ये पूज ! इन्हें सदेव कर ररि-वेगा। कहीं आपकी खापरवादी से ।”

निमल हँस पड़ा।

कहा रेखा न आगे—“पुरप खापरवादी होत हैं। किसी याज्ञ को स्पर्श करते उन्हें दुःख नहीं होता। अपना मन बहुजाना भर जानते हैं ये। जैसे दुनिया का सारा नय वस्तुएँ मिट्टी की हा बनाई हैं।”

फिर सुपचाप लक्ष निमल का आँखों में ताक नीचे झुक कर, फूँकों की पैरों के निकट रख, बोली—“इन्हें घरियों में स्थान दीजियेगा ! अरुण !”

और फिर हलकी हँसी बिखरा कर भागी धा रेखा।

बड़ी देर तक निमल रेखा के बारे में सोचता रहा। चाप्रिरे रेखा चाहता क्या है ? कैसा खेल शुरु किया है उसने ? बहुत गम्भार लगी रेखा निमल को। और अब जैसा रेखा का हँसा उसे पुन सुनाई पड़ रहा हो। रेखा कहन लगी—“मैं मुझे !”

निमल न विवश हो आँखें बन्द कर लीं। रेखा फिर निकट थी, जैसे दूध सज सँवर कर आई हो। इस रेखा को वह कहीं रग्ये उठा कर ? ऊब कर आँखें खाल दीं। रेखा का विचार टूट गया।

भ्रम था—केवल भ्रम ?

दाल स पूज तोड़, जेय में रग्ये। बड़े सुन्दर लगे थे फूल कि देखा, पीये अन्य लक्षकियों के साथ रेखा थी। उर्दनि कहा—रुष ! आप वहाँ हैं और हम सब आप प्रताप करे ।”

एक सप्ताह हो गया है। इस बीच में रेखा को उसने खूब निकट से देखने की चेष्टा की थी। खूब समझ लेने की बात अब मन में शेष न थी। रेखा ने निर्मल के हृदय को अपनी मुस्कानों से भर दिया था। आखिर प्रतिपक्ष निकट आती उस सुन्दर नारी की अवहेलना भी वह कैसे करता ? तितली-सी उस रेखा नारी ने निर्मल के चारों ओर उड़ उड़ कर एक दायरा खींच दिया था। निर्मल सोचता, रेखा क्या है—नारी, वरदान, याचना अथवा निरी अनन्य पहरेखी ? क्या स्त्री की पुरुष के प्रति यही भाँग है ? और कभी निर्मल पुद्गा के घारे में डलक जाता। तब कई कई सिगरेट फूँक डालने पर भी वह रेखा के समझने के सवाल को हल नहीं कर पाता। विचार अधिकाधिक घेर लेते। उस ऊपर उठते हुये धुँ के गोलों में तब सब कुछ खोता सा लगता उसे।

(२)

तीन सप्ताह हो गये। इस बीच रेखा ने आकर निर्मल की गृहस्थी सचमुच सँभाल ली थी। नारी रेखा पुरुष निर्मल के निकट मन सौंप चुकी थी और पाया था एक अपनत्व, थोड़ा सा स्नेह और जिज्ञासा-भात्र कर लेने योग्य सुख।

निर्मल अब डाक्टर हो गया था। अस्पताल की भीड़ में दिन बीत जाता। रात में रेखा गम्भीर भाव से मिलती, उलझनों से मन भर देती, कहती—“जल्दी आ जाया कीजिये, मुझे डर लगता है कितनी थँघेरी रातें हैं !” और तब निर्मल उस निकट खेटी रेखा की थपथपा कर समझाता और अपनी सफ़ाई पेश कर लेने के बाद कहीं कुछ हलका हो पाता।

रेखा चुप हो जाती। चाहती ऐसे हाँ वह चुप रहे।

एक दिन शाम को एक केस आया। ऑपरेशन-थियेटर में मेज पर खेटी हुई थी एक नारी। मुँह बिलकुल पीला हो गया था। जैसे शरीर का बँद बँद खून निकाल लिया हो किसी ने। पीछे पता चला, दो दिन हुये हैं बचका हुये। निर्मल ने आगे बढ़ कर्तव्य निभा, स्टेपसकोप उसकी छाती पर रख दिया। भारी धड़कन थी। मन भर आया था उसका। तब खेटी नारी बड़ी निस्सहाय लगी। निर्मल ने सोचा, कितनी विधवाता लेकर नारी आती है। और क्या कृते बिल्वियों की भाँति हो इनका जीवन घुट घुट कर समाप्त होने के लिये है ? मानव की उम्र देन ने वेदना का अपकार निर्मल के मन में फैला दिया था। वह अब पैलता सा लगा, मानो निर्मल के सारे शरीर में यह पैल कर उसके प्राण ले लेगा। स्टेपसकोप के स्पर्श से चींक कर आँखें खोजीं। उन सपेद प्रतिपक्ष मुग्धता हुई आँखों के मध्य उसे जैसे रेखा दिखाई पड़ी। और रेखा भी तो नारी है, ठीक इसी तरह। तब तब ? जैसे विवश हो, वे आँखें मीक ही रहना चाहती हों। बताया सम्बन्धियों ने सपेरे से मौख बन्द है। सारा

अनृत प्यास रेखा छिये पिरती है, उसे वह कहाँ निरल पाया था। निमज्ज अपने में थाया। रेखा का विचार थाये छुट गया। खामने पुण्या भी—रेखा की बरा बहिन। सरती में रख कर मिटाई छाई थी सरते के छिये। निर्मज्ज से बट कर नमरने किया। पुण्या ने मिटाई की सरती में पर सरकाने हुए कहा—“मैं तो भूख ही गई थी। यह कहिये, रेखा ने पाद दिखा दा। माज कीवियेगा।”

निमज्ज स्तब्ध रह गया।

इस बीस साल का युवती पुण्या को यह कैये समझ ? बहुत गम्मा रहती है यह। बातों का मिजमिखा थोका-सा जमाना भर जानती है, बस। पुण्या को कुछ पद खने का मन हा थाया उसके। मिजमिख सार्थी का दौर दिखता पुण्या का वह अनागत शरीर था मोहक लगा उसे। कितनी खपरबाह है यह। और क्या खड्डियाँ विवाह के प्रथम ही परबाह नाम का आज अपने पास रखती हैं ? खामने को दा, अपने को सौर, यह पुण्या को जैसे निरिच्छत हो उठी हो।

फिर भावे बैठे हुये निर्मज्ज को धूर कर उसने कहा—“कहिये, था खालिये।”

निर्मज्ज खुरचाप उठ पड़ा। शिष्टाचार के गाले बोला—“इसकी क्या आवश्यकता थी ?”

पुण्या हँस पड़ी बोली—“बनी नहीं, अपने हो जाइयेगा, तब !”

“और थाप ?”

“मैं ?”

निर्मज्ज ने मिटाई बटा कर मुँह में रधी। तभी पुण्या बोली—“फिर नहीं पला थापने ?”

निर्मज्ज को अपनी भूख की पाद धाई, बोला—“माखूम था, थाप नहीं खायेगी ?”

“एक ! तो थाप उयोतिर का भी ज्ञान रखते हैं ! तब तो रेखा के गाले जीवन से परिचिन होने थाप !” फिर मिटाई का एक टुकड़ा उठा कर मुँह में बाजती, यह बोली—“एक बात तो माननी पड़ेगी थापको !”

“कौन-सी ?”

“बोह ! थाप जैसे जानते हा नहीं !”

पुण्या उठ का लपकी हो गई थी। धीरे से हँस कर कहा—“हम लोग बहुत छोटे हैं। थापको कुछ दे नहीं पायेंगे, फिर भी जी भरकर दे कि !”

निमज्ज चुप रहा। पुण्या कहती ही रही—“रेखा को तो जानते ही हैं थाप !”

हँस कर पुण्या अन्दर भाग गई।

और बाहर का घना अन्धकार ? बिजली की हलकी बत्तियों के नीचे वह प्रकाश जैसे कढ़ रहा था—'मैं—मुझे खो। मैं तो तुम्हारे ही अन्दर हूँ।' ऊपर कर निमल ने खिड़की खोल दी। खूब-खूब झुझार चढ़ आया था ठसे। भारी प्यास लगी थी, नाचे उतर कर, मन भर कर ठण्डा पानी पी लिया था उसने।

तमी हवा के एक झोंके से कमरे में जलता दीपक बुझ गया।

गहरा अँधेरा फैल गया था वहाँ।

और निर्मल की आँखों में वह अँधेरा था, जिसमें दो नारियों का स्नेह अंपना मृत शरीर गाढ़ गया था।

रेखा जैसे आँखों में आइ हो, और वह केस !

निमल ने पुकारा—“रेखा !”

ध्वनि टकरा कर लौट आई।

जैसे वह पागल हो, चारपाई से उठा, बाहर के अन्धकार का जैसे वह पता लगा होगा आज। आखिर क्यों यह अँधेरा मन को घेरे है ? और मौत ? मौत क्या है ? क्या अँधेरा ही तो मौत बन कर नहीं आता ?

निर्मल दरवाज़ा खोल कर बाहर सड़क पर आ गया था। जो प्रकाश उसके मन से रेखा खोज ले गई थी, उसे खोजने वह दौड़ा पछा जा रहा था। पानी बरसने-बरसने को था। बादल खूब बिर आये थे। घना अँधेरा छा गया था—ठीक वैसा ही, जैसा निमल के मन में था। उस सघन और गहन बढ़ती हुई अंधियारी में निमल ज़िन्दगी का प्रकाश खोजने निकल पड़ा। कौन जाने, उस प्रकाश की खोज उसने कर ली है अब तक अथवा नहीं।

"लेकिन मिला निर्मल, शाम से हा बोलना बन्द है। 'दिलेरियम' हो गया है। इजेरशन दे दिया है। अपना दुष्प्रा आप का गये। टगरेयर मोट कीजियेगा। मैं सवेरे धाऊँगा। अरुआ, ममस्ते!" कह कर टाग्नर एक धोर बंद गया।

निमल का हृदय धक्क रहा था, जैसे बार धक्क चाण्डीरी बार धक्क कर बन्द हो जायगा। कमरे के बीच एक साक पलंग पर रेखा खेटी थी। बिजली के उम शुभ्र प्रकाश में उसका शरीर बड़ा सुन्दर खगा उसे जैसे वह अभी अभी शुरुवात सोई हो।

देख कर निमल का सारा शरीर काँप गया।

मौ ने बताया था—“बार दिन पहले तक ठीक थीं। रात पेठ में जोर का दद दुष्प्रा और सवेरे खक्का पैदा हुईं।”

निर्मल खड़ा न रह सका। मौ का झोंकल एकदम से पैठ गया। रेखा का स्नेह झोंकों से बह कर आने खगा था। अपने पर लूब खोच थाया उमे। चाण्डीर वसी ने ता रेखा को मारने के लिये फौसी तैयार की था। निमल ने घाम पहली बार अनुभव किया था कि रेखा का अभाव वह सह न सकेगा।

बहुन रात तक निर्मल की हृषकियाँ चखती रहीं और रेखा की हालत खराब होती गईं।

सवेरे टाग्नर ने आकर दवा 'प्रिसक्र'हृष' की। निमल ने 'हाइगनोसिस' में योग दिया। दोपहर तक हालत और गिरावने खगा। बार-बार शरीर पेंठ जाता था, मुँह एकदम बन्द हो गया और एक चरफुन, किन्तु जोर का स्वर चालू हो गया था। निर्मल दीक कर टाग्नर को खाने गया। खीटा लो घर में कन्दन सुनाई पड़ा। कहीं कुछ घाब न था, जैसे कोई पछी अपने पित्रदे को लोड कर बंद गया हो।

निर्मल बाहर का दरवाजा पकड़ कर वहीं पैठ गया। अन्दर आदमियों की भोड बंद रही थी। सर्वनाथ हो जुका था।

(४)

अब वह अन्धकार निमल के मन में फैलता-सा खगा। उसके बीच रेखा का असहाय शरीर अब भी पैसा ही खेटा दिखाई पड़ रहा था—भारी अम निमल को घेर था। प्रतिपल वह अन्धकार गाढ़ा हा होता जा रहा था।

तान दिन हुये हैं, वह हरद्वार से खीटा है। कहीं कुछ हलकापन नहीं है, जो मन बँटा खे। निकट रेखा की याद भर रोप है—गहरी गहरी। एक घुँघला सन्ध्या को तारों भरे धीले आकाश के नीचे खड़े हाकर 'मल्लकुपक' में टसन निकट की दीप भातिकाओं की जगमगाहट में कल-कल करती मौ गया की तरल धार में रेखा के शरीर को अस्वियों प्रवाहित कीं और पहली ही ट्रेन स खाद दिया वह नगर। जीवन खँपेरा छा गया। रेखा ने अपना प्रकाश समट लिया था।

और बाहर का घना अन्धकार ? बिजली को हलकी बत्तियों के नीचे वह प्रकाश जैसे कह रहा था—'मैं—मुझे लो । मैं तो तुम्हारे ही अन्दर हूँ ।' ऊपर का निमल ने खिदकी खोल दी । खूब-खूब बुझार चढ़ आया या उसे । भारी प्यास लगी थी, नाचे उतर कर, मन भर कर ठण्डा पानी पा लिया था उसने ।

तभी हवा के एक झोंके से कमरे में जलता दीपक बुझ गया ।

गहरा अँधेरा फैल गया था वहाँ ।

और निमल की आँखों में वह अँधेरा था, जिसमें दो नारियों का स्नेह भ्रंपना मृत शरीर गाढ़ गया था ।

रेखा जैसे आँखों में झाँकें हो, और वह केस !

निर्मल ने पुकारा—“रेखा !”

ध्वनि टकरा कर खौट आई ।

जैसे वह पागल हो, चारपाई से उठा, बाहर के अन्धकार का जैसे वह पता लगा लेगा था । आखिर क्यों यह अँधेरा मन को घेर है ? और मौत ? मौत क्या है ? क्या अँधेरा ही तो मौत बन कर नहीं आता ?

निर्मल दरवाज़ा खोल कर बाहर सड़क पर आ गया था । जो प्रकाश उसके मन से रेखा छीन ले गई थी, उसे खोजने वह दौड़ा चला जा रहा था । पानी बरसने-बरसने को था । बादल खूब बिर आये थे । घना अँधेरा छा गया था—ठीक वैसा ही, जैसा निर्मल के मन में था । उस सघन और गहन बढ़ती हुई अँधियारी में निमल जिद्दगी का प्रकाश खोजने निकल पड़ा । कौन जाने, उस प्रकाश की खोज उसने कर ली है याद तक अथवा नहीं ।

विवाह का संदेश

विमला नरेंद्र के पावन में एक लूकाए का भौंति आई। शहर में नरेंद्र के चाचा रहते हैं। उन्हीं के घर पर रह, उसने यूनीवर्सिटी का डिग्रीयाँ लाई हैं। पढ़ाव का छियाँ एक दिन उनके यहाँ आई, उन्हीं में विमला भी थी। तमा न जाने क्यों अनजाने नरेंद्र का विमला बहुत प्रस्ता लगा। नरेंद्र न अनेक खूबियों को देगा था, किन्तु विमला की म्ब मातुगे न उसे विविध ही मुख और सत्ताप दिया। और एक दिन जब विमला के पिता न नरेंद्र के चाचा न विमला को एक घरया पदा देने के लिये नरेंद्र का कहा, तो नरेंद्र का आश्चर्य नहीं हुआ।

पहले हा दिन विमला उसे विविध लगी। इतना धान् पदु और कुशुल अइकी ता उसने जानन में नहीं दखा। थकेला सत्तान हाने के कारण विमला पदद साख में हा पूर्ण युवता लगने लगी था। विमला के रिता शहर के प्रमुख बडीजों में थ। नरेंद्र पर शुरू से ही उनकी अइकी थी।

उस दिन विमला ने कुछ पदा नहीं। अनेक प्रश्न पूछे गये—मास्टर साहब का क्या नाम है, घर कहाँ है कितनी बहिनें और भाइ हैं, मास्टर साहब ने धी० प० में क्या ले रक्ता था ?

नरेंद्र हसका क्या उत्तर दे। आगिर हुतने सारे प्रश्नों का वह उत्तर दे मा तो कैसे ? जिज्ञासा का डम आँधी के सामने, जिसमें विमला उड़ी जा रही थी, नरेंद्र थका सा रह गया; फिर बोला—“आप पढ़ें भी ।”

“वाह ! नाम तो आपको बताना हा पड़ेगा ।”

नरेंद्र कठ गया।

अधिकार की गतिमान सह में विमला एक घायल शूगी के समान घरना घर घनाता सी लगी। नरेंद्र के मन में एक लूकान उठ रहा था। वह विमला से भगना कैसे माज ले ? तमा नीकर ने आकर कहा—“माँजो बुझतो हैं ।”

विमला अदर गइ और फिर न आई। उस दिन की पढ़ाह वहीं रुक गई।

घर आकर नरेंद्र ने अरन अदर एक अमोरा प्रेयैता और आतुरता का अनुभव किया। रह रह कर विमला का कातर सूक, भावनापूर्ण आँसू नरेंद्र के सामने नाधने

लगतीं । नरेन्द्र सोचना, विमला कितनी सुशील है ! कोई भी तो उससे प्रथम पार ही मिला कर उसका हो सकता है । कितनी पार नीचे बैठी विमला ने उसे कनखियों से देखा किन्तु जी भर हँस खोल कहीं पाई वह ? फिर दूसरे ही क्षण नरेन्द्र को अपनी स्थिति का ज्ञान हुआ । मन में समाई विमला को वह कैसे निकाल ?' यह विमला, जो केवल पहले ही दिन उसकी नस नस में समा कर रक्त का संचालन करने लगी थी, उसे एकाएक दूर भगाने का नरेन्द्र में साहस नहीं था । यही दूर तक अपने पर विमला के अधिकार की बात को हटाता रहा वह । सोचता, व्यर्थ नया रिश्ता वह क्यों जोड़े ? जिनदगी में किसी की याद रखना हा तो दुःख को पातना है । अपने ही बनाये हुये छाया जाल में नरेन्द्र फँसा रहा । यहाँ तक कि उसे पता ही नहीं चला कि रामदास कप चाय का कप मेज़ पर रख गया । चाँचा देर में रामदास फिर चाया । माजिक को उभी प्रकार बैठा देव कर उसका जी भर गया । निकट आ बोला—“आपने चाय भी नहीं पी !”

“नहीं, रामदास कुछ सोचता था । याद ही नहीं रही । घूमा कप ले आओ !” जब रामदास चला गया, तो नरेन्द्र ने दिव्य बहलाने के लिये एक मोटी-भी किताब निकाली । किन्तु मन न लगने के कारण बन्द कर उसे एक तरफ़ रख दिया । चाय पीकर बाहर निकला कि सुधा चाची ने सुनाया, खाना तैयार है, खाकर कहीं जायें ।

नरेन्द्र खाने बैठ गया ।

सुधा ने धाड़ी सामने रखते हुये कहा—“आज तो तू बाहर ही नहीं निकला । मैं कहती हूँ, हमका जब इम्तदान सिर पर आ जाता है, तो खाने पीने का भी क्रिक्र जाता रहती है ।”

नरेन्द्र चाची की इस अत्युक्ति पर हँस पड़ा ।

निकट बैठे हुई शान्ति ने शोर मचाया—“दाद में नमक अधिक है, सरकारी में भी मिच ज़्यादा है ?”

सुधा ने जिन्नासा-भरी दृष्टि नरेन्द्र पर डाली । किन्तु वह तो चुपचाप, सिर नीचा किये खाता ही रहा । विमला की कल्पना न उसे हतने ऊँचे उठा कर रख दिया था कि नमक और मिच ज़्यादा होने की उस याद ही नहीं थी । शान्ति की चीख पुकार से चौंक कर बोला—“हाँ ! ज़्यादा तो है !”

सुध खिलखिला कर हँस पड़ी, फिर बोली—“अभी क्या ? आने दो ज़रा बहुरानी को !”

सुधा ने दाद में चम्मच डालते हुये फिर कहा—“सभा को साधा स्वामी मोड़े ही मिलता है । इसके लिये भी यही तपस्या करनी पड़ती है !”

नरेन्द्र के मुँह पर स्वामाविक ज़ाज़ा का ज़ाज़ी दौर गई, हँस कर बोला—
“नहीं, चाची ! आज क्लास में मावर्स की ‘थ्योरी’ बतलाई गई था, उसी की बैसा देख रहा था !”

सुधा चाची चुप हो गईं ।

अपनी हालता पकड़े जाने पर जिस विद्यार्थी को दुःख और सताप होता है, वैसा ही नरेन्द्र ने भा अनुभव किया । खाना खाकर उठा, कपड़े पहिन बाहर निकला, फिर सोचा, विमला के यहाँ ही चला जाय । विमला दरवाज़े पर ही मिला । दोनों हाथ उठा कर नमस्ते का, फिर हस कर बोली—“आज आपने बहुत देर का ?”

नरेन्द्र क्या उत्तर दे ? बाह्य, कह दे कि विमला, खाने में ज़रा देर हो गई । कल से और भा पहले था जाया करेगा । किन्तु नि शब्द चुप ही रहा ।

विमला नरेन्द्र की झोब अन्दर भाग गई । नरेन्द्र के मन प्रायः पर इल्लकी प्रगति-शाली जीवन का चषकता से भरा विमला की पुत्रकित मुस्कान और स्नेह सिन्धु अखिले खल की अत्यन्त आतुर खहर के समान फैल गई । माधुरा की उस तरल-स्नेहसिक्त धारा में नरेन्द्र का भावुक मन बह गया । नरेन्द्र ने सोचा—कितनी सुन्दर है विमला ! एक मुमन के समान ठमका यह निखिल सौन्दर्य, उले क्या पता, कितने अमरों को पागल बना सकता है ! विमला की विचार धारा बहुत देर तक नरेन्द्र को उलझाये रही । सामने विश्वी पुस्तकों पर दृष्टि गई । नरेन्द्र ने एक पुस्तक उठा कर देखा, पहले ही पृष्ठ पर महीन मुन्द्र अक्षरों में लिखा था—‘कुमारा विमला’ नरेन्द्र सिद्धर उठा, अखिले मुँह पुस्तक रख दी । फिर एक सिगरेट जला कर उसका बहुत सा धुर्मा ऊपर धाड़ते हुये यह सोचने लगा—‘काश, विमला को यह हसने भी निकट से देख पाता ’ ऊब कर नरेन्द्र ने सिगरेट तुम्का दिया । सभी सामने से विमला अपने छोटे भताजे विरान के साथ आती दीख पड़ी ।

विरान ने आते ही नमस्त की । फिर सड़े-सड़े ही हँस कर बोला—“मास्टर साहब कल आपके खड़े जाने के बाद स !”

‘विरान !’ विमला ने बात काटा ।

विरान ने उता प्रकार हँस कर कहा— नहीं, मैं तो कहूँगा—हाँ, तो !”
“विरान !”

परन्तु विरान ने उसी प्रकार अपनी हाथ स विरान का मुँह चम्क कर दिया ।
, मेरा भोला विरान, तू कितना अशुभ

अब विमला ने बोली—

,

,

,

स्नेह के अतुल उन्माद से भरे हृदय भागड़े को देख कर नरेन्द्र हँस पड़ा। फिर बोला—“विमला, अपना पाठ याद करो।”

विमला को गलती मालूम हुई। एक अरराधी को भौंति मुँह पर से हाथ हटा लिया। चुनचाप अरना जगह आ कर बैठ गई। तब नरेन्द्र ने मूर जल्ला से विमला का बेहरा जाल होता हुआ पाया था।

मुँह खुलते ही विशन ने हँस कर उसी प्रकार कहा—“दिन भर आपका नाम जता रही। कहता था कि मुझे तो मास्टर साहब बहुत अच्छे लगते हैं। किन्तु सुशील थी हँसमुख हैं। जा करता है कि ”

“विशन तू !” और फिर कुछ न कह, विमला हँस कर अन्दर भाग गई थी।

विशन को पकाएक अपनी भूल की याद आई। हाय, उमने क्या कह दिया ! इतना बड़ी बात विमला दादों के लिये वह कह गया था। अ दर ही अन्दर विशन दुःख से गल गया। वह चुन हो गया।

नरेन्द्र ने कमरे के चारों धार इष्टि डाला। थोले एक बड़े से फोगे पर जा कर टिक गई। यह फोटो विमला का था। नरेन्द्र ने उस बिन्दा हुइ बैसी दय-राशि के अन्दर विमला का झोंग सा तड़पता हुआ मन पाया—वह मन जिसकी अभ्यर्थना करने के बाद भी उसे सन्तोष नहीं हुआ था। बड़ी देर तक चित्र का विमला के सौ-दय को नरेन्द्र निरक्षता, एक असाम सुख का अनुभव करता रहा। फिर पकाएक विशन को याद कर बोला—“तो मेरा नाम लेता रही ?”

विशन केवल हँस भर दिया। फिर किताब बन्द कर बोला—“अब नहीं बना ऊँगा। विमला दीदी नाराज़ होती हैं।”

नरेन्द्र ठहाका मार कर हँस पड़ा।

विमला फिर नहीं आई।

और एक दिन खाना खाकर उठा, तो रामदास ने एक चिट्ठी लाकर दा। नरेन्द्र ने लिखावट पहिचानी। एक विचित्र सुख से वह भर गया, लिखा था विमला ने—

“उस दिन विशन की बातों से क्या आर सबपुत्र नाराज़ हो गये ? मैं अरनी असावधानी के लिये क्षमा चाहती हूँ। तान चार दिनों से आप आये वरा नडा ? मुझे न जाने क्या कुछ अच्छा नहीं लगता है। मारा दिन आपका याद आया करता है। शका होता है, कहीं आप बीमार न हो गये हों। आशा है, आप स्वस्थ होंगे। यदि हो सके तो आज ज़रूर आइये।”

‘और विमला ने सब ही तो लिखा था’—साधा नरेन्द्र ने—‘कहाँ पाँच रोज़ से विमला के घर वकील साहब के पूढ़न पर भी तो उतने

ही कह दिया था कि सुटो नहीं मिलो, बस झरूर जाऊँगा। कमीज़ पहिन कर वह बाहर निकला कि अचानक विशान ने नमस्ते की। फिर बोला— 'विमला दादी ने आपको बुलाया है।'

“सुभे ?”

‘तीन दिनों से विमला दादी ने खाना नहीं खाया है। मासूम है आपको ?’

नरेन्द्र एक अपराधी की भाँति सुपचाप खड़ा रहा। विशान ने फिर कहा—

“मास्टर साहब, आपको कुछ भी नहीं पता कि विमला कितना !”

“विशान !” नरेन्द्र ने झुठ ज़ोर से कहा।

“आपने विमला दादी का मन क्यों दुखाया—बोलिये ?”

नरेन्द्र धागे सुन न सका। अन्दर भाग गया। जूते पहिन कर बाहर आकर बोला—“बच्चों, विशान, चलो। गुम्डारे घर चलता हूँ।”

विशान सुपचाप मग्नगुम्भ-सा साथ हो लिया।

घर पहुँच कर नरेन्द्र ने देखा विमला पहले से ही अपने कमरे में किताबें गूले हुये घिठी थी। नरेन्द्र को घाते देख कर उगने ममले की।

विशान ने दौड़ कर कहा—“देखो, मैं लाया हूँ मास्टर साहब को गुलाब कर। सुभे मिठाई खिलाओ।”

विमला ने टॉट बटाई, तो नरेन्द्र ने हँस कर कहा—“भई, मिठाई तो मैं भी खाऊँगा।”

विमला छात्र से गढ़ गई।

विमला की टॉट से विशान सुपचाप अन्दर भाग गया।

नरेन्द्र ने अपने अरकट सन्निकट बैठी, किताबों से खलभी हुई विमला को देखा और देखा उस रूप पुत्र के शब्द बठती हुई महान् अभिजाया को जो पैन के समान घाई थी। नरेन्द्र ने अनुभव किया, विमला इन तीन दिनों में ही बहुत उदास हो गई है। शॉलें बटाकी भीतर घँस गई हैं और मुह पर एक ग्लान, अनिच्छित हँसी की रेखा खिच गई है। आपने इस अनुभव से नरेन्द्र को दुःख हुआ। वह एक आहत पत्नी की भाँति बोला— ‘विमला !’

“जी !”

“क्या सुभे चमा न करोगी ?”

विमला पुस्तक की काखी-काखी छकोरों से ही उखली रही। केवल उसकी बकी बकी, नीचे मुकी हुई शॉलें भीग गईं। नरेन्द्र ने निकट आकर कहा—“सुभे मारु करो।”

“आपको ?”

अब विमला ने अपनी आँखें उठाईं। कनपियों से नरेन्द्र को देखा। नरेन्द्र ने उन फानर मुक्त आँखों में अभिलाषा का वह रूप देखा, जिसे देख कर वह कॉप उठा। फिर बोला—“मुझे नहीं मालूम था कि तुम मुझे इतना ”

विमला ने धीरे-धीरे काटना ज़रूरी समझा, उत्तर दिया—“आपको क्या, आप भी यदि पुरख न हो कर मेरा ही भाँति खाँ हुये होते, तो जानते !”

नरेन्द्र पर एक अनोखा नशा छा रहा था।

विचित्र सिंहरन अपने अन्दर वह अनुभव कर रहा था।

गोपी विमला ने मन का एक छाना कोना अपने स्नेह से ढँक लिया था। उस एकान्त निर्जन, कमरे के बाँच बैठे हुये नरेन्द्र ने विमला को देखा, विमला ने आँखें नीची कर लीं।

नरेन्द्र ने नीचे बैठे विमला का हाथ अपने हाथ में ले लिया। यौवन का रक्त दोहों के शरीर में दौड़ने लगा।

विमला निश्चय निर्जोष, स्वप्न में खोई-सा, प्रतिभा सी, बैठी रही। विमला की पतली गोरी-गोरी अँगुलियों को छूता हुआ नरेन्द्र बोला—“क्या सच, मुझे क्या न मिलेगी ?”

विमला हँस पड़ी।

उसकी हँसी थी कि वह इसी प्रकार बाते करता रहे। इन बातों का कमी अन्त न हो। क्रियाहीन कल्पना, विमला के अलसाय, यौवन मार से बोभिल शरीर को खींच कर नरेन्द्र ने अपने धातुपाश में कस लिया।

इसी समय मों ने अन्दर से पुकारा—“विमला !”

विमला दौड़ कर मों के पास भाग गई।

इस घटना के पश्चात् नरेन्द्र विमला के अत्यधिक निकट आ गया।

विमला सोचती—‘नरेन्द्र कितना सरल और भायुक है। बातचात क सिलसिले में कितनी बार उसने अपनाव की छाया बिखेरी है।’ नरेन्द्र सोचता—‘काश, किन्दगी का प्रभाव उसी की सौध धारा में वह पाता।’ अपनी इस सुन्दर कल्पना में उसे विचित्र सुख मिलता।

छात्रों के दिन थे। नरेन्द्र देर से विमला के घर आया। बाहर का कमरा खाली था। विमला किसी कायचर भीतर गई थी। किताबें ऊपर उधर बिखरा पड़ा था। नरेन्द्र सीधे विमला के बड़े से फोटो के निकट पहुँचा। वहाँ देर तक चित्र में बिखरी हुई रूप-सुधा को निरखता रहा। जैसे तस्वीर सचमुच सजीव रही हो। नरेन्द्र भावनाओं

में बह गया। मन भर कर विमला को प्रक्षाम किया। चावेठ में फिर हाव जोड़ थका से बोला—“विमला ! तुम्हें क्या पता ?”

सभी एक शिखरिजादृष्ट से नरेश्वर का व्यान टूटा। देखा विमला पुरकार पुरसी का सहारा लिये उर्मी क निकट धड़ा उठे दृश रहा है। नरेश्वर खडा स बट गया। विमला ने धारे से गुरदरा कर गम्वार आवाज़ में कहा—“बारा बरती नहीं होती, मास्टर साहब !”

नरेश्वर निर्याक मूक, क्लमय विमूह भा धरा रहा।

विमला ने आग यह धर, शिखरुज नरेश्वर क समाप पहुँच कर कहा—“मास्टर साहब ! फिर फिर का और दृशारा कर बाधा— मास्टर है यह कौन है ?”

नरेश्वर ने गरदन हिला कर उत्तर दिया—‘नहीं !’

विमला ने एक आनकार का भक्ति धरन मीन पर शँगुली रख कर कहा—“मैं !”

सभी विमला ने फिर धरन जोड़ा—‘जानत है, यह कहाँ रहती है ?’

नरेश्वर चुन रहा।

नरेश्वर ने शीघ्र भूँर ली।

हँसता हुई विमला ने अब आग यह का चुन लये हुये नरेश्वर का हाव पकड़ कर कहा—“बाइय, मैं बताऊँ, यह देवाता कहाँ रहता है। और विमला न नरेश्वर के हृदय को शँगुला से छु कर कहा—“वहाँ ! समझे धार ?”

नरे द्र शिखरिजा कर हँस पड़ा।

विमला एक सोफे पर आ कर धैठ गई। मन उसका एक अनूठे आनन्द से भर रहा था। फिर वही ने हँस कर बोला—‘एक बात पूछें मास्टर साहब ?’

नरेश्वर ने तिर हिला कर जैसे हामी भरी।

‘तो बताइये, प्रेम क्या है ?’

नरेश्वर अपने में आया। यह कैसे समझाये ? क्या कहे विमला स ? जिस अक्षम अक्षत अकथनाय प्रेम की कोई परिभाषा नहीं, उसे यह कैसे प्रकट करे ? फिर भी विमला का तो उत्तर देना ही है। यह आरती पराजय माने कैसे ? इसीलिये बोला एक त्रिधात्री का भक्ति—‘स्तिताय स्तो गर्ई ह। एक-दो दिन में देख कर बताऊँगा।’

विमला शिखरिजा कर हँस पड़ी।

फिर अक्षयत स्नेह भरा विमला क निकट धा कर यह बोला—“विमला रानी ! जानता हो, प्रेम क्या है ?”

विमला ने नाथे ताकते हुये धीरे स कहा—“नहीं !”

नरे द्र न विमला का हाव अपने हाथ में ले लिया। निश्चेष्ट, निश्चन्द बनी रही

वह, जैसे किसी ने मंत्र-मुग्ध कर दिया हो। आवेश की तरल धार में नरेन्द्र बह गया। उसके बालों की धार धारे सहलाते हुये बोला—“अब भी नहीं समझी विमला, कि प्रेम क्या है !”

विमला ने आँखें ऊपर कीं। नरेन्द्र की मदभरी आँखों से उसकी आँखें टकराईं। स्वप्न विस्मृत सी वह मुस्करा दी।

×

×

×

और एक दिन नरेन्द्र ने सुना कि विमला की नानी बीमार है, सब लोग गाँव जा रहे हैं। उस रात वह नींद रुक-रुक से न पाया। रह रह कर विमला की याद आती रही। सुबह होते ही हाथ मुँह धो, कपड़े बदल वह विमला के घर पहुँचा। देखा, मकान खाली पड़ा है। नौकर ने बताया, अर्धी सब छाग स्टेशन गये हैं। नरेन्द्र ने घड़ी देखी, छ बज कर दस मिनट हो चुके थे, और साढ़ छ पर ही तो ट्रेन जाती है। टोंगा कर नरेंद्र शीघ्रता से स्टेशन की ओर बढ़ा। मार्ग भर वह अनमना सा पैदा विमला के विषय में न जाने क्या-क्या सोचता रहा। बीच में रेल के फाटक पर टोंगा रुक गया। फाटकवाले ने घटाया, गाड़ी आ रही है।

नरेन्द्र ने घड़ी देखी, छ बज कर पैंतास हो चुके थे। एक भारी निद्रा से चौंका नरेन्द्र। और तभी सचमुच ट्रेन आ गई। नरेन्द्र का हृदय धड़कने लगा। वह तोंगी पर खड़ा हो कर देखने लगा। माड़ के बाच उसन देखा—इन्टर-क्लास के एक दिव्ये का खिदकी से दो हाथ अचानक ऊपर उठ कर उसे नमस्ते कर रहे थे।

नरेन्द्र पर जैसे बिजला गिरी। वह चिपला उठा—“टोंगा लौटाओ !”

तोंगावाला चकराया, बोला—“स्टेशन न चलेगे सरकार ?”

“नहीं !”

बिचरा हो टोंगेवाले ने टोंगा वापस किया, और उसी दिन नरेन्द्र ने चाचा का वह घर छोड़ दिया।

नरेन्द्र ने शहर के बाहर रहने के लिये जय मकान लिया, तो उसके मित्रों को बड़ा आश्चर्य हुआ। सभा से साह्रियों में पक्षी की भाँति चक्कनवाले नरेन्द्र को साधुओं-जैसा जीवन यापन करते देख, पहले तो उनकी समझ में ही न आया किन्तु बाद में नरेन्द्र की पीढ़ा तथा बिजली के २ ज्वल प्रकाश की भाँति सभी पर बिखर गई। दिव्ये तान दिनों से विमला की याद को वह किसी भी प्रकार भुल नहीं पाया है। न जान क्यों वह सु दर विमला नरेन्द्र के जीवन में फिर एक बार पक्षी की भाँति चक्कन उठी।

नरेन्द्र सवेरे ज्ञाना देर से उठा। हॉव मुँह धो कर जब बैग, तो रामदास ने करा,
 “बाप खाऊँ, चाबू जी ?”

नरेन्द्र ने आगने स्वर में कहा—“खे चाधो !”

समी रामदास ने आ कर एक लिफाफा दिया। नरेन्द्र ने लिफाफा पढ़िधानी,
 विमला का लिपि थी। फाड़ कर पत्र निकाला। एक दार्च निश्वास के साथ पत्र छूट
 कर जमीन पर गिर पड़ा। नरेन्द्र गिरते गिरते बचा।

नीचे बड़ा देर तक पत्र पढ़ा रहा।

छात कागज पर सुाहरे अक्षरों में लिखी हुई पत्तियों सूर्य के प्रकाश में धौर
 भी चमक रहा थी। नरेन्द्र बड़ा देर तक दावार से पीठ टिकये सिगर पीना रहा।
 फिर एकाएक पत्र पर पड़े हुये पत्र को उठा कर टुकड़े टुकड़े कर डाले। यह था
 विमला के विवाह का संदेश।

पतन की ओर

ज्येष्ठ नैसाय्य की तरता हुई दुपहरिया में भी उमड़ी बाजा घोंसों में शीतलता और सतुष्टता की छाया सी नाच उठती। किसी अज्ञात वेदना से उसके छात्र अघर पुरम्मा जाते।

सिर पर एक छोटी सी पीतल की कलसी और हाथ में लोटा ले कर सपतिया अपने में एक नया आकर्षण अनुभव करती। खेता का सँकरी भेड़ों पर अपनी मैत्रा धाती के आँचल से रीटियों को ढँके हुये जब घीनू के पास अपनी झलकती हुई आँखें ले कर जाती, उस समय सारे सत्तार का उन्माद सा उसे अपनी उस अनूठी मुद्रा में सामित सा मालूम होता। सम्प्रतिधा सब कुछ समझ कर भी नासमझ बनी रहती।

उमका घर था—दो कमरे पटे हुये, एक छोटी सी छकड़िया, द्वार पर एक छपर। यह उन्हें देख कर सोचती—‘सच ! हमारे पाम सब कुछ है, लेन है बैल है फिर ये भी तो मुझे प्यार करते हैं। मुझे और पादिये ही क्या ? शहरों में क्या रखा है।’ उसकी अभिलाषा जाग्रत हो उठती। घीनू उससे हँसता थोड़ता और अन्त में उसकी कमी हुई धोती की ओर सकेन करके कहता—“अरी देख न ! शहरों की छियाँ कभी इन्हें टूटी तक नहीं। अथ की जब कभी ‘पैठ’ जाऊँगा, तो तेर बिये एक अन्धी सो थोती जाऊँगा। समझी,हाँ !”

और सपतिया शरमा-सी जाती, और फिर धीरे से कहती—“हगे ! तुम्हें दिन भर यहा सुकता है। मुझे इहाँ में सुख है। शहरों की औरतें सुनती हैं, वही अरिग्रहोन हाती हैं, फिर भला तुम्हीं यज्ञयो उन्हीं के से बख मुझे भा पड नाओगे ?”

और घीनू ‘तिक ! तिक !’ कर हल चकाने लगता।

घाणू के गाँव से देहला शहर थोड़ा दूर था। महीने में एक दो बार वह अपने खन्निहान को सारू कर नाज ले यात्रार में बचने जाया करता था। वही पुरानी तामा मरिजद के नामने अरना घेर लगाये हुये घीनू बैठा बैठा साचजा—‘यह बिजड़ी का उग्रव्रज प्रकाश, यदि सम्प्रतिधा एक बार भी दूब ले, गो मिट्टी के तेज की विविधा से काम लेना दे’ सारू थोड़ा दूर तक कैत्री सदकों की देल कर उरका दरद

रो पड़ता। जाप नी गुड़ों के समान छाटे छूटे बच्चे गादियों में बैठे टहल रहे हैं। मोटरों की भीं भीं, साइकिलों की क्लिक् क्लिक्। सब का सब। वीनू यहाँ रहने पर तुला हुआ था।

उस दिन आकाश में आग सी लगी गई थी। उसकी लालास प्राणि मात्र व्याकुल हो इधर उधर भाग रहे थे। लू सरटि ले रही थी। मालों तक किसी छायादार वृक्ष का पता न था। सम्पतिया अपने अंग में सुमारी लिये हुये वहा पीतल का छोटी सी कलसा के साथ मेढ़ों पर बड़ी चली जा रहा था।

“महँगी, महँगी सखी ! महँगी महँगा !”

कोई था रहा था। रात्रि के अंतिम पहर का भौंगि शांत वह स्वर उसके कानों को सुन्ना रहा था कि—‘सम्पतिया ! मैं तुम्हारा हूँ, और तुम मेरी। देखो मुझे रष्ट न करना, मेरा प्रसन्नता तुम्हारी प्रसन्नता में हा तो है, समझी ?’ और सम्पतिया का टासुक आँसू, बेलों की जोड़ियों का चलते हुये देख रही थी। वीनू कुछ गुनगुनाता हुआ हल चला रहा था। उसके मस्तक पर पत्तान की नूदों की देख कर वह एक बार सोच में पड़ गई—‘यदि नौकरा कहीं मिल जाय, तो हमसे लाख आरुद्धा है। मगर करेंगे कहाँ ?’

हल रुक गया, वीनू उसकी धोती से रोटी खोज मँड पर बैठ कर खाने लगा। वह सोच रहा था—‘इसमें हानि हा क्या है। सब स्त्रियों तो चरित्रहीन होती नहीं हैं, फिर केवल सुन्दर-सुन्दर वस्त्रों को ही पहन कर कोई अपने चरित्र को नष्ट नहीं करता। जब उसकी छोटी-छोटी पतली कलाशियाँ, शहरों की रथक की, चूड़ियों से ढँक जायेंगी, उस समय वह कितना भली, अनूठी, सरस लगेगी !’

विचार धारा बह रही थी—‘हाँ ! तो हमें राजी कैसे करूँगा ? यहाँ तो कहता हूँ, बिना पढ़ी लिखा औरत भगवान् किसी को भा न द !’

पति को खुपचाप देख कर सम्पतिया बोली—“आज क्या देख रहे हो, क्या मेहनत अधिक करनी पड़ी ?”

वीनू की रवासों में उसका भविष्य हँस गया, बोला—“तुम्हें क्या ? तुम तो घर पर बैठी रहती हो, अगर कहीं इतना काम करना पड़, तो सब मालूम हो जाय। उमी सुखिया आया था लगान के लिये कह रहा था।”

“फिर क्या सोचा है ?” सम्पतिया ने एक करणा भरी आह ली थी।

‘सोचा क्या है यदि शहर में होता तो मजदूरी ही करके कुछ रुपयों का प्रयत्न कर लेता।’ वीनू जाये सिर बिये हुये हा बोला।

तो क्या हुआ, करो न नौकरा, तुम्हें मना ही कौन करता है ? अगरले हप्रते ही मैं सब टाक कर लेना।”

सम्प्रतिषा की स्वयंपूर्ण मुस्कान वीनू के हृदय में घँस गई। उसने लापरवाही से कहा—“तो शहर में जा कर करना पड़ेगा।”

“शहर में ही सही, तुम गाम का वापस आ जाया करना, मैं यहीं रहूँगी समझे।”

वीनू को क्या जो चाहता या वही मिला, बोला—“अरी पगली! तूने अभी शहर देखा ही कहाँ है? वहाँ चमाचम बिजली की रोशनी होती है। सुनता है, चीज़गाड़ियों आकाश में टबती है। अरी, क्या बताऊँ यदि एक बार भी तू वहाँ ही आवे, तो यहाँ रहने का नाम ही न ले।”

“रहने भी दो। तुम्हें अगर किसी की तारीफ़ करने को खगा दिया जाय, तो इस।” सम्प्रतिषा ने अपना मुख पति की ओर से हटा लिया।

“तारीफ़! इसमें तारीफ़ ही काहे की! अगर मन न मानो, तो खला न। जो अपने पर वापस आ जायेंगे। अभी कल ही तो बलदेव वहाँ से लौट कर आया है। कहता था, तस्वीरें नाचती और गाती हैं, और हैं! तुम्हें भा माँग का सिंदूर ला दूँगा, समझो।”

सम्प्रतिषा के खिंचे हुये गालों पर ख़्वा की ख़ाबिमा दौड़ गई। उसने फिर नीचे कर कं कहा—“मरे खिये सिंदूर छेकर क्या करोगे? हाँ! अपने खिये घूँ ले लेना।”

और वीनू हल चला रहा था। सम्प्रतिषा खेन पर से खड़ी आई। शहरों की तड़क भड़क और नौकरी की इच्छा ने उनके हृदय में उरसुकता भर दी। समस्त दिन वह अपने पहोसियों से शहरों की विचित्रता के सम्बन्ध में बात चान करती रही। शाम होते ही उसने खाना बना लिया। फिर वीनू द्वारा मेले से काई हुई हरी धोती पहन कर पति का प्रतीषा करने लगी।

आज उसने अपना पहोसिन से साधुन ले कर जीवन में प्रथम बार खगाया था और बार बार शींग में मुँह देख कर मोचा भँ—“अभी क्या शहर में चल कर मैं इसमें भी अधिक मुँद हो जाऊँगी।”

नाले आकाश में दीप जल उठे। प्रकृति रग्मौर हो चला। सम्प्रतिषा का प्रथम चरण भारी हो गया। सम्प्रतिषा और भी उरसुक हो गयी। ठाक समय पर वीनू आया। बाहर बेल बाँध कर वह बैठक में कुछ गुनगुनाने लगा। फिर कपड़े उतार कर वह अन्दर गया।

सम्प्रतिषा घंटा सोच रही थी—“खलो, शहर में रहेंगे। घूम घाम देखेंगे, यहाँ क्या रखा है? राधे की अर्माँ भा तो शहरों में रहती है। वे चरित्रहीन दूर स हरा साड़ी की चमक दिखाई पडा। वीनू की प्रतापिन बोला—“अरे न तो अब ठेठ शहर की-सी औरत बन गई है।”

सम्प्रतिया की खींचें सीने मुड़ गईं। धीरे से वह बोली—“बधा शहरों की खींचें पेयी हो हुआ करता है ?”

वीन् हँस कर बोली—“निर बही बात ! कदवा ता है, चली न ! बधा राता “हर” का भा चन्वाएँ हावी है । तु ता उम्मे द्य कर उग जावती ।”

“तो बधा कज का दिन चन्वा है । पवित्रता भी बधा दिन बन्त थे । चन्वा खुप तक वापस भा जायेंगे । मैं कन्वा का गीं श द्य चन्वे ग्यार खिये भाती है, चन्वा कज जान पर न दिये जायेंगे ।”

“जैसा टाक समको बैसा कर छो ।”

भाज सम्प्रतिया बधी खगत के साथ उगे गाना निजा रदा थीं ।

×

×

×

चन्वा प्रभात और सुनहरा संध्या ने सम्प्रतिया के उगुक हृदय को आकाशित कर दिया था । भरभरती स खड़े हुए प्रजुहित मन सम्प्रतिया और चानू देहभा के एक छाट स घर में बैठे थे ।

वीन् ने बधा चेष्टा कर के एक दूकान दिखाये वर छला । उसमें वह पान पीकी बेचना चाहता था । दूसरे ही दिन कुछ पान सिगरेट और दिवातलाइयों के बबदल ला कर उसन दूकान में रख दिये ।

दोयीं होती हुई भा उताई दूकान पहोल की दूकानों से खड़ी था । यह बाजार का रास्ता था । समस्त दिन मनुष्य चला ही करते थे ।

चानू ने एक सप्ताह परचाएँ एक दैनिक पत्र के प्रेस में पीकरा कर ला । वीन् कुछ पढ़ा था, चन्वा थोड़े ही दिनों में उसे कर्मोकारी का काम मिला गया । दूकान पर बंठना थी अकेला सम्प्रतिया । कुछ दिनों तक तो वह सकुपाई परम्पु किर परिस्थिति ने उसमें बच साहस और धारज का मत्र पूँक दिया ।

उसही दूकान पर प्राय मध्यरात्रों की भोग रहनी । लोई कोई मनपजा कुछ गुनगुनाता हुआ हँस कर कहदेता— भाज पान नहा खिजाआगा !

और सम्प्रतिया हँस कर हाथ बधा देता । उसकी उस चन्वी, सरम मुकान में भा एक आकर्षण था । उसके प्र हक उन्को के पास आते थे ।

सम्प्रतिया हँसता हुई सब से कहती—“जो, चानू बहुत दिनों में आये ।”

रात्रि हाता । चानू काम पर स वापस आता, दोनों में कुछ मीठा मीठी बातें होती । फिर ह्म नये चावन पर टीहा निगया होती, और उनके नेत्रों में पीँद खजने खगती ।

×

×

×

वह एक मूँदर सवेरा था। सम्पत्तिया उस दिन प्रातः काल से ही अपनी दूकान पर बैठा था। निय की भौंति नवयुवकों का दल उमड़ रहा था। और वह सब को उनके इच्छानुसार पान थ्रीडी दे रहा था। उमर्की उनींदी आँखें उस दिन किसी को हँदूँ सी रही थीं। यह नित्य आता था। एक सफ़ेद खदर का तुरता और चप्पल पहने हुये। यह पान खाकर सुरघार चल देता था। पहल ही दिन उसने पान खेकर उसके हाथ में एक रुपया रख दिया था, और सम्पत्तिया की भोली फाली आँखें आश्चर्य से चमक उठी थीं। उसने उसे बारस काने की चेष्टा की थी। पर वह न माना था। बस, उसी दिन से वह उसे जागता और पहचानती थी। कभा कभी वह हँस कर कह भी देता था—‘चलो, आज सिनेमा देख आयेँ !’

पर सम्पत्तिया केवल मुस्करा कर रह जाती थी। उस दिन भी वह आया। वही प्यार की रुहली आया, बड़ा डोला पायजामा। इनी गिना अस्थियों के अदर सीमित सौन्दर्य की सच्ची प्रतिमा। सदा की भौंति उसने एक रुपया निकाला और उसे उसके हाथ पर रख कर बोला—‘लो, इमकी मिठाई खा लेना, समझी !’

सम्पत्तिया चुप थी। शहर के मनुष्य बड़े दयालु होते हैं, यह वह खूब जानती थी। भीड़ कम ही चली थी, वह पास ही खड़ा सिगरेट पी रहा था—‘चलो न !’
‘ना, पाप होगा !’

वह और पास आ गया। स्थान जन हीन था। उसने उसे पकड़ लिया। सम्पत्तिया हॉफता सी उठ खड़ी हुई—फिर मूँद से बोली—‘यह तुमने क्या किया ? हाथ ! यदि कोई प्ल चोता तो !’

वह एक और हँसता हुआ खड़ा गया। सम्पत्तिया पान खेचने लगी। उसरात्रि को वह धीनू से जी भर कर बोली भी नहीं।

‘चलो न !’ यह स्वप्न देख रहा थी। वही डोला पायजामा और चप्पल पहने हुये वह मूमता हुआ आया। और वह दूकान पर बैठी थी। उसने डम मना लिया था और वह उससे साथ चल दी थी। काई उसे हिंसा रहा था। उसने आँखें खोलीं। देखा—धीनू काम पर जा रहा था। यह हृदयका कर उर बैठी। फिर धीनू को काम पर भेज कर वह अपनी दूकान पर आकर बैठ गई।

‘चलो न !’

सदा की भौंति वह आया। सम्पत्तिया का स्वप्न मूर्ति हो उसके सामने खड़ा था। वह उसकी ओर देख कर कभी मुस्करा ऐती और कभा नाराज़ सी हो मुस्र फेर लेती। सम्पत्तिया रोच रही थी इममें हानि ही क्या है ? चलो, देखूँ ! सुनती हूँ, तस्वीरें खलता हूँ, वह भी तो बह रहे थे। फिर एसा दयालु मनुष्य भी तो मिजना मुश्किल

है। कल वह 'आवर टाइम' करेंगे। बारह बजे तक आवेंगे, तब तक वापस जा जाऊंगा। उम्हें एकर भा न होना कहूँगा दुकान पर थी।

सम्पत्तिया के मुख पर रवीरूति का मझक देव बर बह बोला—“बयों, क्या सोच रहा हो?”

सम्पत्तिया माओ पृथ्वी में गढ़ गई कुछ भेवकर बाबा—“तुम्हारे चखता है। बयों।

“हाँ, हाँ तमा ता कहता चला न 'दुखना कैय नाचना-गाता है।”

सम्पत्तिया कुछ कहना चाहता था। यहीं पर मारी का मारा गणियों पुरान का कहपना के परे अपना एक चन्दा बहाद उपस्थित कर देती है। यहीं पर मारी पुरुष से बहुत बड़ा विरयसय का मूक प्रतिमा बन कर उते सुम्माता है कि मैं तुम्हारी उच्छवासों में मिल कर घमर होना चाहती हूँ।

“ता, कल चला।” वह शरमाते हुये बोली।

“कल ही मरा।”

वह एक और सुम्माता हुआ चला गया। रात भर सम्पत्तिया को नींद न आई। प्रात काल होते ही वह दुकान पर जा बैठा। वह ठाक स बज शाम को आया, वही टीका पाणजामा और चम्पल पहने हुये। सम्पत्तिया न दुकान बन्द कर दा।

घोर अशुभकार की मरपता में दो अपरिचित प्राणा न जाने कहीं बंद चले जा रहे थे।

×

×

×

बीनू स्वयं भी देहला जैसे प्यभिचारपुण नगर में जा कर चपुता न रह सबा। अपने गणियों के प्रोत्साहन से वह मंदिरा का भा सवन करने लगता था। प्राय दो दो, तीन-तीन दिन तक वह घर में जा न आता था। भोळी सम्पत्तिया 'ओवर-टाइम' समझ कर सगुष्ट हो जाती।

उस रात को भा निरय का भौंति वानू मगर में झूमता हुआ घर आया। परन्तु यह क्या? घोर नीरवता में घर की टूट टूट में किसी अरुच वैठना का काळी घाया कौप रही थी—सब अशुभकार था वानू सहम गया। सोचा—‘अभा दुकान से नहीं आई होगी। परसों भी ता इन्ही समय आई थी।’ उसने उठ कर मिटा के तेल की दिबिया जलाई, फिर कुछ सोन कर उम सुम्मा दिया।

तब ! तब !!

घर! ने दो बजाये। बीनू की पथराई हुई भौंलों में तग गणियों घूम गई। फिर गाँव का हरी भरी भूमि। और कुछ दूर बाद सम्पत्तिया का सरल भोळा मुख उसका हृदय जोर जोर से धड़क रहा था। उसकी भौंलों में नींद हँस रहा थी। उसे स्वाहा रहा था, देखा—वह गाँव के अपने स्वेर जोता रहा है। बैल चुपचाप चले जा रहे

और सम्पत्तिया कुछ दूर से वही पोतन की छेटी सी कजली जिये हुये चला था । वह उसे प्रामीण भवन पर बिड़ा रहा है और 'वह' प्रकृति की एक सरस बना गाँव छोड़ना नहीं चाहती । वीनू की आँख खुल गई, कोई न था । केवल वही, केला, निर्बाध बसोष ! प्रातः काज की भरण किरणें उसके लिये न जाने कितना क्षण संशय छाई थीं । वीनू काम पर चला गया ।

एक सप्ताह हो गया । वानू अब प्रायः घर में ही न आता था । सम्पत्तिया की भी उसे चिंता न थी । समस्त दिन चंद्र शराब के नशे में पूर हो प्रेम का काम करता, गीर रात होते ही किसी वेश्या के यहाँ चला जाता । उसका जीवन उदास और "माद" का जाला में भुजस रहा था ।

×

×

×

आज अपना एक मित्र उसे एक नवीन वेश्या के पास ले जायगा, इसीलिये तो उसने साकू कपड़े पहने हैं । ठाक समय पर वह चल दिया ।

वह एक तीन भतिजा पर का कमरा था । सड़क की दाहिनी ओर होने के कारण प्रत्येक व्यक्ति का उस पर दृष्टि जाती थी । वीनू धीरे धीरे उठी की ओर बढ़ रहा था ।

कौन जानना था कि उसकी अपनी मोर्छी सम्पत्तिया इसी विशाल प्रासाद में बैठी हुई आज पतन और अवनति के गत में गिर कर समार पर राज्य कर रही होगी ? कौन कह सकता था, एक सरल प्रामाण्य आज अपने रूप और यौवन से नागरिकों का वासना की तृप्ति कर रही होगी ?

वीनू घुरघाप उठी की ओर बढ़ रहा था । उसके हाथ पैर काँप रहे थे, हृदय धक्-धक् कर रहा था । मन कुछ सोच रहा था—शायद सम्पत्तिया के हँदने की ही बात हो । आज वह एक नवीन वेश्या के पास आया है, तभी तो आरम्भ से ही उसे उदार और स्नेही बनना चाहिये । इसीलिये तो वह मैनेजर से चालीस रुपये उधार ले कर आया था । ता क्या वह सचमुच उसे अपना आदृत हृदय सौंप देने के लिये ही आया है । वानू सादियों पर चढ़ रहा था । विचारों में नवीनता आने लगी, कदवता ने प्रत्यक्ष का स्थान ले लिया ।

एक अचकित सुकुमारी बैठी पान लगा रही थी ।

वीनू की आँखें खुली रह गईं । पाश्चात्य पाउडर और लवेंगडर से ओत प्रोत होते हुये भी उसका मुख वानू स छिपा न रह सका । धीरे से उसने कहा—“स
कर ति

अदर जा चुकी थी । पाँजे से कुछ गिरने का शब्द हुआ ।
थी ।

सुखिम 'वीनू' को पकड़ हुये थाने की

दो काली-काली लक्ष्मी

उमिष्ठा टी-से खेकर आई ।

निशिकांत पैग चार पड़ना रहा ।

उमिष्ठा ने टी-से मेज़ पर समा दिया, पर कुछ बाज़ा नहीं । ज़रा गीर से अपने आपको महसूस कर वह शर्म से माँ लगा । एक मूक दायरे में जैसे वह गरीब चरमो भारतियों को फैला, पादा को बिछर छिरी रहगा ।

निशिकांत न उम देता और देणा कर से उगो सरेद्वय+र भाप को । अण्डत बोला—“समा एग, निशिकांत चाय सव-सव गीर भूय नहीं द ?”

उमिष्ठा जैसे पट गई हा ।

वह धवड़लना का तड़ में पहुँच क्या ? वह चाय पगाये, छाये और फिर इस निशिकांत का ज़ा पाने से क्यों हटे ? चाय छानत जानने दाथ जहाँ पछ गया था यहाँ ज़रा अचिड़ दुग्या । दुखा और उसका येदना से निःउमिष्ठा कर नद बोला—“भूख हो तो खाने में महमान क्या ?” और वह उब धूर कर एक मोर मन्धर गति से चली गई ।

वह सब भी निशिकांत के खिये घोना है । उमिष्ठा की उताहन से उसका मन भीग जाता है । उस चारन से दूर हटा कर भा जैसे उमिष्ठा तकरार और बढा गई पर वह तकरार की योग में था, ज़रा गुम्ता हा, अरना येदना यहाँ दात्र क्यों गई ? भूख उसकी है । उसका लगाव उसने चाय तक अपने म पाया है । फिर उमिष्ठा को वह कैसे इसमें शामिल करे ? और उमिष्ठा आई नहीं, ता सोचा—“यदि वह ज़रा भी लेता, तो क्या उमिष्ठा ठरे दुरा कहता ।”

निशिकांत ने ज़रा सँभल सिगरेट जलाई । चाँद दीवार पर छगे एक धायछ-पेण पर रुकीं, फिर मेज़ पर थिड़े मज़पोश पर कुछ देर रहरी । थाइ आई, इसी मेज़ पोश के खिये उतने पारसाल डैमसिल के गुल्लों का तलाजा किया था । सुटी में पढ़ाई से छू जब वह पर आया, तो उमिष्ठा ने एक धाँ दरवे का ओट छे सुनाया था—

“नूँ, कोई यहाँ गुल्लों का रास्ता देखे और कोई यहाँ जा मज से सोता रहे ।”

निशिकांत मज़ाक का शिकार बना ।

घात उस पर कही गई थी।

फिर भी वह चुप रहा। ज़रा जमा, तो एक 'मूक छाया का ध्यान आने लगा। वह उस छाया का मिलान उमिला से करता, और ठीक उसे ऐसा लगता, जैसे उमिला उसकी छोई रही हो। पर निश्चिन्त उसकी पकड़ में न आता, न आता, न आता।

उमिला सोचती—'वह निश्चिन्त भा कैसा पुरुष है। वह मेरी भावनाएँ बूमता ही नहीं। सवाल का सुन, ज़रा ऊप, मुस्त-सा ऊपर-ऊपर का जवाब दे देता है, और यह इसे कहे भी क्या ?'

निश्चिन्त उसे पहले से जानता है। तब भी वह उसकी ख्याली मजकूर पा, अन्य लवक्यों से मिला।

वह रिश्ते में उसकी दुःख की लड़की थी।

कुछ छुट्टियाँ बीत चलीं, तो एक दिन अपने सिनेमा का प्रोग्राम क्यों बना खाला और उसे सुन, अपनी खिला खिला श्रौंला को घुमा उस ची-बनाइ स्कीम म उमिला समूची समा क्या गई ? सादा में यह अस्त-व्यस्त नारी कुछ कुछ भरी सी केवल मूक कल्पना-सी मोधी समझा न गई। धीरे से बोला—'ज़रा रुक, ठहर ! खा कर दूसरे शो में चलो।'


उमिला अपने में समा गई।

कुछ बोली नहीं। चुप चाप रहा। मन की बात था, वह पूरी उतरा। थोड़ा सा हँस, मन घेंग धीरे धीरे उसके सामने से ही कहगी कहती 'चलना ज़रूर।' एक और चली गई।

बात कहने की थी, कही, उसे निभाना क्या ? टाकने का महाना ही ठीक जँचा। और वह कहाँ जाना चाहता था ? खुद समझ न पाता था।

उमिला उसकी बात लिये बैठा रही। रात में जब सप सो गये, तो वह आई, ज़रा और आगे बढ़ी, तो देखा—निश्चिन्त चुपचाप सो रहा है। कुछ बोलना अच्छा न लगेगा। मन मार कर खौट आई। दूसरे दिन धीरे से कहा—'वाह ! सिनेमा देख कर तो पेट भर गया !'

निश्चिन्त कुछ बोलना नहीं। बात उसी पर थी। कुछ उसकी उलझी वह नहीं रही। उमिला मझौल से बाहर रही। सोचा—'उमिला ठीक कहती है। एक धोने में था क्या हम उसे सप न कहेंगे ?'

एक दिन निश्चिन्त पकड़ में आ गया। उसकी मौँ का अनुबोध वह टाके कैमे ! बोली थी—'ओ निश्चि ! हँस सिनेमा दिखा खा, कान छाये है।' 

घौर निशिकांत 'न' नहीं कर सका। मन्त्रियों के साथ चढ़ने की बात था। वे भी चर्ची। निशिकांत बैठा आगे, उर्मिजा घौर मन्त्रियों वाले कुत्र न करने बना बचने, चुन हो सोचा—'यह उर्मिजा भी कैसी खड़की है। कुत्र करना नहीं, ज़रा भ्रं, हँस भर देनी है।' घौर खन्न शुरू हुआ। दिमागी उर्मिजा आगे रही, घरनी पावा बिनेर हँसती हँसता।

उर्मिजा की कररना घौर मन की मारा का, पाव की उर्मिजा न मिजा यह बीका। श्वाशकारिक घोरा में था क्या यह अन्नग न हागी? उगा समय जैव उर्मिजा पाव का बोका बढ़ती हुई कहन-नी खगा—'हो हो, हो!'

दूर से इट बनका आँखें जब उर्मिजा पर पकतीं, ता वह घरने को क्षिती नहीं। खन्न यह क्यों करे? अन्न से!

पि पि पि!

घौर निशिकांत विचारों में पड़, उस गहरा जुहा विषा का सदन न कर नीचे गिरी हुई आँवों में कुछ हँस खेगा, जैव विषा का विष रहा हा, एक घुरनी का मा? उन्न आँवों में इतना यह दूब गया कि बैडना अन्न न खगा। बस, घुरचार उडा, घौर बाहर हा पाके में आ सोचा—'जिम्दा नीचे खड़ेखर की एक ताताव रही हा जिसे पाव कर सारे कसम्य को निमा, घुर हो 'गाना पकता हो। पुरासत्र के दापर में भून्न जैव उन्न अपना हा 'रू' न बनाने में एक गहरा रिक्त पकती हा, घौर यह उर्मिजा। सामने उर्मिजा का देण यह बीका। उर्मिजा ने देखा कि निशिकांत पाक में पापर का मूर्ति के पाम घुरचाप खड़ा था।

ज़रा पाम आ, भिन्नक कर उसने कहा—'बजा, पेमे कार्हे पाव में ही भाग भाना है?'

“कोच में ही ?”

“घौर क्या तुम्हें यह न खगा कि तुम्हारे साथ घौर कोई है ?”

उर्मिजा कड़ता गइ—“मैं कुछ नहीं जानती, आरको चन्नना पड़ेगा।”

‘लेकिन उर्मिजा न कहता हूँ कि खन्न 'मू' में नहीं हूँ। तुम आगे, मैं न जा सकूँगा।’

घौर ज़रा यह पास आई। पाव में पश्यर की मूर्ति, घौर सताव उर्मिजा! सामने हरी हरा घास, पाव सिनेमा का बधा-सा मकान—एक मानवी दग्म ता। घोड़ी—“मेरी घुराई होगी।”

घौर निशिकांत ने मूर्ति के सहारे खड़े हो, देखा—एक भोजी मारी की दावा को गहरे बाजे रंग की सादी में ज़रा जिजा गिजी, बिजरी बिजरी देखा वहाँ पर फ़ली। उसने यह उन्नकने खगा, जैव पापर की मूर्ति उर्मिजा में बदल रहा हो।

“ओ निशि मैं हूँ ! मुझे देखो, लो, मैं तुम्हारे सामने हूँ !” फिर पीछे उर्मिला की दिलवती माड़ी का देर कर वह चौंक कर बोला—“मैं अब न जाऊँगा ! जिन्दगी में कुछ एसा हुआ है कि पकड़ नहीं पाता ! तुम जानो !”

ज़रा और मरक कर मिगरेट जलाइ, और धुएँ को छोड़ कर कुछ सोचन लगा, मानावइ एक दार्शनिक की भाँति चीजन का मस्य मालूम कर लेगा।

ग्यदी हुई उर्मिला ने सोच—“कुछ अधिक बोलना ठीक नहीं है।” एक सम्मान स उभरा प्रश्न सामने आया। तुइ ही फैसला किया, “अधिक खुशानइ क्या ? कुछ बोली नहीं, चुपचाप छाया गो बढ कर प्रदर आई।

एस घटना के बाद ही यदि जिन्दगी का मूना स्वप्न टूट, रातम हो मिल जाता, तो ठाक होता जैम यह मस्य कुछ दाध काली रातोंसा प्रसफल और मौन मा शून्य हा। सिफ मन का हँसा स चेज अपने को खोना ही जैसे होनहार है। यह होनहार वेदना का ऐसा मैना त्रयीर निशिकान्त में डाल गया है कि वह पकड़ नहीं पाता। जैसे सारा दुख अपने में समाय जमा रहेगा। फिर काम करते-करत निशिकान्त को लगता जैसे उर्मिला भाई हो। गुजायी हलके रग के जम्बर में वह और मा बिजा रिखी है। अलग अलग ‘स्केचेज’ और ‘पोजेज’ से उसे मिलाता। पुराना ‘दबल साइज’ और नई ‘कुज साइज’ स्विटम की हँसती तारा से मिलाता, उर्मिला की हँसा भा ठाक इसा प्रकार का है। वह भा सशारा पापुपेमी ही हँसी रिखरती था। उसका भी पकड़ से बाहर उलम्फन से दूर एक पनी रनाइ भावना था, और यह पोज कुछ बिपर रिखरे बाळ, खुजे खुजे धग। नारी का एक पूरा जमाव, निरी कीमलता। दूर पर उर्मिला कहतामी लगता हँ, मेरी भादुवता पोज की कीमलता और गुम !’

एक दिन पढ़ने बैठा, तो लैम्प जल उठा, जल उठा पास के एक ‘पोज’ को साथ में लिय। जल्दा में चुम्काया तो बुझा नहीं। नीली साड़ा में टँकी हुई एक नारी ओंठां पर मलिन हँसा—एक शू प सा, गहरी गहरी, पसरी पसरी उससे दखा गया नहीं।

हाथ चले, और धर वह पोज आधा ही रह गया था। निशिकान्त ने सोचा, यह अथनला चित्र सारा अरदा जँटा रहा है। नारी के मोह का क्या यहा रूप है ? मोह ? वह रुहा। उसने उर्मिला को भ्रम में डाल क्या मोह नहीं रँगाया ? सिनेमा से उठ, उमे पाड़ा दे क्या वह कलधय निभा लुका ?

ज़रा जेटा, ता पास का चित्र जैसे कहने लगा—“उर्मिला, उर्मिला !”

और फिर

“मैं जला मैं जली !”

फिर फिर ?

घटना उभर उभर आने लगी ।

फिर कब उसपर द्योत भाई न अपने ध्याप उमकें युन हुये 'पुत्रोवर' को पहिन लिया था । और उस देख ज़रा उच, गुम्म से जन यह कमर स बाहर कान पकड़ घसींता सा लाह थी, कदता कदता— जे, और पहिनगा जैसे तरे हा लिय तो युना हो । दया कुछ न होता । दालान पार कर खला तो निशिकान्त को पा कुछ भेपती सा हँस, ज़रा सारा को संभाल जत्दा का जाने का । जैसे वह उस कुछ समझ ग ल ।

और निशिकान्त ने सोचा—'क्या यह उमिला को कभी भा भूल सड़ेगा ? नारी की भावनाओं स उमिला को पकड़ स दूर हो गया यह बदलेगा नही ?' 'पुत्रोवर' का सहारा पा यह उमिला, नारी एव हँसा । अपने से ही रता और हँस कर, मट कर जैसे यह एक पहला हा बनी रहेगा । यस !

जुरसी पींच बैठा, तो उमिला साधा बदल नइ हो एक और स हँसती हुई आई और हाथ बढ़ा ज़रा एक पान की तरतरा मज़ पर रस कमरे से बाहर हो गई । जाता उमिला को पारदर्शा शांती ने बहुत दूर पहुँचाया । एक उलझन का बात उठा । उमिला गुथा बना उसके मन में फैला वही भटक रहा । वही कटक मगड़ भर गई मन में बात खुद में खो गई । कुछ समझ न आया । और शींग के उस पार सड़ा हुई उमिला ने दया—निशिकान्त वैग हुआ कुछ सोच रहा है । यह खोलापन उमे लू महसूस स हटाता ज्यादा भला नहीं लगा । मन बुझाव का महाना था, यह पूरा डगरा । देखा कि निशिकान्त हाथ बढ़ा, पान उठा, मुँह में रस ज़रा अपने में धा भर गया है ।

और कमर में उँडे निशिकान्त ने सोचा, यह उमिला पान में अधिक चूना क्यों लगा लाई ? क्या यही उस देना था ? यह उठा, और पान थूक, उस फेंक सिगरेट जला, उसमें खो, सोचा—'यह सुंदर नारा कथ तक उसके मग से खेलती रहगी ?' जा उसमें धैरी लुका छिपी करता, एक रहस्यपूर्ण गृहस्थी युगता दूर दूर छाया की मूर्ति हँसती—भागता !'

उमिला की बन आई ।

देखा, पान फेंक दिया । हँस, हाथ में 'पुत्रोवर' ले ज़रा गहरी ओंछें घुमाता सामने आई ।

उस पा निशिकान्त खींका, फिर ज़रा संभल कर पूछा—“प्रेम से खिलवाव करना कब से सोचा ?”

और उत्तर मिला—“जब से प्रेमी ज़रा से कष्ट को न सह, याद हग, किसी को मूल, विश्वास होने लगे !”

बस, आगे कुछ पूछना आवश्यक न लगा। चुप हो उर्मिला खड़ी रही। सोचा, जो कुछ उम्मेने पूछा है वही क्या कम है, जो और पूछ मन को दलका करे। अपनी गलती उस रीति जगह में फैला पाई उसने। पान का सहारा पकड़, चूने का ओट में वह आहर याहर आना जाना चाहती थी। अपने मन्त्राल से अब, खूब सवर बन वह सोंप गई उसे। अब उसने पाया, यदि वह पान ग्या ही लेता, तो क्या

नीचे बैठी दो चार फट्टे डाल, वह बोली—“मैंने तो जाना था, आप उम्मे खा ही लेंगे !”

“मैं !”

“पर उम्मे फेंक, जैसे आपने एक उलझन न पाया छुड़ाया हो क्यों ?”

और निश्चिन्त उम्मे कैसे समझावे ?

आज उसका जो एक भीतरा वेदना से लगलभ भर गया। उर्मिला के आगे वह जीत सकता नहीं। बल्कि ज़रा दब, झुक, और भी पांदा से ऐसा हो जाता है जैसे पांदा फट बाहर आना ही चाहती हो।

‘जिन्दगी में पीछा छुड़ाना पाप है। मैं उसे कैसे पा सकता हूँ। और यह जो दूर-दूर एक रोमास है, वह क्या ऐसा ही काजा काला रहेगा ?’

और उर्मिला कट गइ ही जैसे।

फिर हाथ का पुलोवर ले, उसमें उलझ सोचा—‘जिन्दगी ठीक ठीक क्या ऐसी ही बीत जायेगा ? और यह निशि क्या कभा भी न सोचेगा कि मैं कोन हूँ ?’ निशि कात न मन बँगा पूछा—“कितने में ‘पुलोवर’ था जाता है ?”

उत्तर मिला—“आजकल ऊन का क्या भाव है ?”

और निश्चिन्त ने कहा—“ऊन कई तरह का होता है। गुहों से अच्छी बन, नर्हा नर्हा शँगुलियों से रोज, रग बिरगों में था वह उलझ भर जाता है। उसका भी कहानी दाता है। फिर लाज इसली के ट्रेड मार्क स क्या होता है ? धाराधारा और बाग्य ऊपन मित्स का ऊन अधिक बिक, ‘पुलोवर’ के पहाने किता क थाप पहुँच, किसी व्यावहारिक प्रश्न को सुलझा, किसी की गहरी चान्दरी हा रह जाना है।”

‘व्यावहारिक प्रश्न एक याद सा। यह सब वह क्या करे ? यह उम्मे था, न उसने सुना ! बात खरी लगी। ज़रा उलझी बातों को छिपाना था। उतरी नहीं। पहाना पुरा नहीं। फिर थीक उठी, सार्दी १९७४

कहता—“धर आगे स ज पा दुमा तात्रमन्त्र ना दिवाण हा नदी, मात्र काना ।
जरा बूट मारी हूँ ।”

‘पुत्रावर’ रण अन्दर गई । फिर उमे ले हॉनर ई मना आई । मेज पर जना
बोली—‘निशुत्र मदाने में आई था । वहा मु , र है !’

देख निशिकान्त क मन में अचकते धाग उठा, वह इस दिववधाय को ले का
बया करे ? दिववधाय ! हूँ गीक हा ता मगा । उमिजा भी ना दिख का कर राउ
दे । वह उस मन्त्र में अरने का नुवा, उगे लू जरा पाव धाना आइती है । मागे
अन का बदना पा कर जेग उमिता म कग—“म भीत हूँ, १ दि था। यह एक
मगधदनाय है ? देगे अरन मे पादर उन नए मन ।” धार पाव रगा हुआ
पयर का नाममदल जीवे दिजा, दिजा थीर पाव गिर कुज गिरीर दुहों में परिपन
हा गया ।

अब निशिकान्त चौका—जग सभता तो देखा उमिजा ने मेगपश रीष, डीक
शिष्टाचार में ला बराबर रत निया था ।

एक बार था । वह निजा व्यक्तिग कुज कहने न बना । जरा सा पुर्षी निदात्र,
अरने को खा, उमने साथा—जैसे धाय वह इस तात्रमदल का साथ रोग मगा ।

उमिजा की चौख तात्रमदल पर जिहा । फिर जरा घेठे हूये निशिकान्त पर मा ।
धाग उठा धीरे धारे, यह तात्रमदल का गुनद हा बवा दूरा ? बही, वहा जो समूचे
तात्रमदल का निखा रहा था । थीर उसय मगा यह योग ना ‘मुमताज’ की स्रवाजी
दूय । उसमें आई दिख का कहा ना । निशिकान्त पर गुस्ता थावा । दिजाने
की उलमन था ।

थीर निशिकान्त ने अरने का मुलमाले दूय कहा—“पुदव अरनी यागार घोष
जाता है । एक घोंसले में टिके मन पर, सारा निशुगा निमा—दू म बोट जाता है,
ताकि वह घोंसला हट नहा । नहीं हा टूटे ।

धागर में बहुत अन्त्रे ‘तात्रमदल’ मिळते हैं ।”

उमिजा बोली—‘व आरही हा मुशरक हो !’

थीर निशिकान्त जरा शामाता बोला—“मुमताज म्ब मुदर रही होगी !
उसना लुजा मुडी मुपलमानी सम्पना में हूबो हूबा चौखों स शाहमहा उलभ गया
था । सिवा मुनताज क उसरु जा से थीर कोई सत्ता भी था । निशुगी का सफर
पूरा करते करते यह तनिक अन्का था । थीर तभी नेवे मुमताज में अरने को गला,
सौव यह आदशाह मन का हो गया था ।

मन का ?

घात पैली—वह भी तो मग का है ! ज़रा उमिला से उलफ़ गया है । और मुमताज ? वह कदवना में कैपी दूधी सुादरी शखवार से ठँकी ज़रा खुबे-खुबे वाल नाखे फाते से दँधे । तभी दूर जैस उमिला मुमताज से लग कहने-सी लगी, 'जिन्दगा एक स्वप्न है । यह बादशाह था, घात निमा ला । पर हम अपने बाहर क्या यादगार रखें ?'

ज़रा और बोली—'जैमे मेरा भी ताजमहल बनवाओगे ! बोलो । यह तुम कहते हो निशि ।' और निशिकान्त ने धीरे से हामी भरी । जैसे हामी भर यह अपने उत्तरदायित्व स भगद रास्ता बना लेगा ।

'यादगार रखना एक ज़स्वत है' जैसे वह एक हलकी याद में आ भूल कर कला की चाज़ ही अपने रूप ले लेती हो ।'

और उमिला उन पथर के टुकड़ों में खूब भगदी था । उन्हें उठा बाहर फेंको गई । गड़ और फिर ग आई ।

निशिकान्त शाम को उठा, तो उमिला का छोटा भाई सामने पड़ गया । घटपट पूछा—'तेरी दादी कहाँ है ?'

और उसन सुनाया कि दीदी उमिला शक्ति के साथ सिनेमा गई है । बस, फिर कुछ पूछा नहीं । साचा, यह उमिला आज अकेली क्यों गई ? ज़रा पास के चित्र पर थोले जिर्को, वह चिट्ठाने सा लगा—उमिला, उमिला !

निशिकान्त घबरा गया । उठा, और गालमारा पाल मारीयेग निकाल, काट पहिन चल दिया ।

जान की पथर की मूर्ति के पास आ देया, रेल शुरू हो चुका था । रुड़ जाते न बना । एक गहरी याद कुहरा सी छाया रही । चुपचाप रुक, सिगरेट चला, मूर्ति से लग, अपने में रो गया । पास लम्बे लम्बे हाथ सुडौल चिट्ठा शरीर निरा पापाय जैसे वह पथर की मूर्ति मुक्ता रही हो कि मैं हूँ नारा । वही, वही जो तुम्हारे अन्दर ज़रा खिलरी बिलरा है । आगे दिमाग़ो उमिला का टाका आया । तमा जैस किमा ने उस मूर्ति में प्राण भर दिये हों, कहे लगी—'मैं उमिला हूँ, उमिला ।' फिर सारी कोमलता में सजीयता का पास आ जैस वह पथर की उमिला अपने दोनों हाथ फैला बोली—'मैं हूँ ओ निशि ! तुम दरो मत, मुक लो ।' और उम स्तब्ध भ्रम के आस-अण की निशिकान्त अस्थीकार न कर सका । बड़ा ! ज़रा और वदा । फिर उस मूर्ति की हाथों में समेटे सदा रहा कि ध्यान घग किसी ने हले जैसे वह । धीरे धीरे पाळा—'उमिला, उमिला !'

असह्य भार

और यह कर भी तो क्या ? मन उसक है, हृदय भी है। उसमें ज़रा सी याद भी तिरजा है। यह याद, वह निकाले बैध कि उमन कहा या कि—अचला, देवी, ज़रा अपने को समझ लो, मैं और कुछ चाहता नहीं। कबल तुम्हें तुम्हारा शान भर कराना चाहता हूँ। तुम नारा हो। स्वामी का दियारा हुइ धरोहरों का समेगी। और फिर भी क्या उससे शृणुकर रह सकागा ?

यहा होनहार है। यहा विधि का विधान है। और अचला ने अपने को समझा तनिक अपने मन में खग पाया—वह नारा है। ठाक, स्वामी उमे चाहिये। प्यार की मूल है उसमें। पर वह क्या उससे स तुष्ट हा सदागा। और सुनील ? वह स्वयं है सुन्दर है, अपनी मातृकता में दया है। पर उमका स्वामी उससे शृणुकर होगा—सुभाष का श्रुकर स बहुत दूर। शायद उससे अधिक प्रजुपट सु दर भा।

वह एक स्वयन्वित गति में चूक जाता है। उसका श्रुकर मन की लकारों के बाक से दब बाहर जाना चाहता नहीं है। वे लकारों सुनाल पद खुला है। वह उमे क्या कर कि लकारों कुछ मलिन ही उटती ह। नैस सुनील उस रक्ता धुला कर उहीं लकारों में अपना अस्थित्य धुला देगा और जैसे वह हस कहीं महगा ?

एव स'या को उसन स्वामी का हाथ पकड़ा था। उस समय उसे क्या पता था कि सच हा तो वह स्वामी बाता बातों का ही उस अपना न सदागा। उसा का श्रुकों में फँस, एक सीमित दायरे म था वह केवल नारा भर रह जायेगी। सुनाल दिन भर आया नहीं, उसका श्रुकर पथरा गइ। मताहा यह क्यों कर और कहीं तक ? उसका जी उसे देखने की हो रहा था। बट धार स तनिक उसक जा से खग हँस, मुस्करा कर समझाना भर चाहता था—'भा, सुन ल नाराज न होना। मैं अपने में बैदी हूँ। मेरी यह विवशता परमात्मा का मन है। तुम्हें समेटना चाहने पर भी समेट पाई नहीं। मैं नारा जो हूँ। स्वान्व का ग्याल कहीं मुझे तुम तक आने देता है। पर मैं कहींगा कुछ नहीं। मेरा मन तुम्हीं में रमा रहता है। चाहती हूँ कि तुम में बैधा रहूँ।'

शाम को सुनाल आता हुआ दिस्ताइ दिया—कुछ भारो भारी सा। अपने में

सुना धरा पुस्तक ! और वह उससे पहले कह पाती थी—'स्वामी' और उभर दिना वह कुछ बोली नहीं। केवल सुपचार पढ़ी रही, कुछ दबी दबी। सुनाल का धारें वह निभायेगी। लेकिन ! सुनाल पास बैठा था। उसका अनजानी धारा को वह बाँधेगा।

और कल ? उसका स्वामी उससे अधिक रोमैन्टिक होगा। लगा—वह स्वामी अधूरा धारों का पुनला मात्र है, एक महान् शतात का बाहरा झाका सा। वह स्वामी इस अरुद्धा लगता है नहीं। अधिकारी और अनुरोधों के बीच की गहरी खाई को वह भाँप भर गई थी, कि सुनील बोला—'रात भर गाँव आई नही है। रह रह लगता रहा, मानो कोई सुझने मेरी कला मँग रहा है। पलकजयदर-पुस्तिका के स्कूल का एक कहानी लिख रहा हूँ। आज उसका दूसरा भाग समाप्त हुआ है। वह पढ़ाना अपने जीवन का एक जावित चाँज़ है। एक अरसे का अनुभव उसमें रख चुका हूँ, उस शायर ही समाप्त करना है।'

और अचला न देता, नींद भरी आँखों से वह तारु गड़। सामने एक कागज़ का दरदल रखा था।

उमने उसकी अस्तुती कहानियों 'फेयर' का है। दिन दिना भर, रात रात भी वह उसके पेन्सिल से लिखे हुये कागज़ों को संतता रही है। तभी, कमा कमा उसने उसे समाप्त भी पाया है। घर के एक कोने में तमा उसने कुछ चण टिक कर सुनाल के विषय में अपना धारणायें धसाई है। उम वह माता रहा है। घर स लगा हुआ है, उसका घर, उसा में उमने सुनाल को परिथाता है। उसकी भोला भोला धारा का पढ़ा है। और वह भा तो युवक है। उसका भी कहीं, किसी का महारा परत्र टिक जाने का ज़रूरत मालूम पड़ता होगा। कहानियों को साक करते करते वह अटक कर साचती ता पाता कि सुनाल भावुक है। उससे बोल पाता नहीं, इसा से कहानियों का सहारा पकड़ा है। सुनाल उसे सुझाता—'मैं अपने जावन में जा चुका हूँ। अब कुछ करने का जा धरता नहीं है। और वह कहाना भी ता तुम्हें समाप्त करना है। तुम्हारी अनवृक्षा के सामने मैं झुक जाता हूँ। वस ऐसे कमा कमा लगता है, जैसे मैं तुम्हारे फिस्ट अपना ममत्व छोड़ जाता हूँ, जैसे तुम में अटक अपना दूध हा भर मीं गाना है।

पर वह कुछ कहती न थी। सुपचार हैंसी हैंसा में अपना में धा मेज़ पर मुक उसने कागज़ संभारा करता। फिर उन्हें साक करने में लग जाती। भावा के प्रवाह में वह भी बही थी। उसकी मनचला धड़नाओं को उसने भा सुझा था।

और वह कुछ दियरा हुआ सुनाल स्वीय पर झेली रग काय । फिर जले

प्याले में उँड़ल घघता के मामन रख घारे म कहगा "ओ, अचला ! यह चाय मुके बनाना आता नहीं ह इमालिये देन में ठिचकना हूँ । तुममे कुछ कह सुन खेता हूँ । फिर भा बिना दिय जी भरता नहीं है । और तुम को यह क्यों अरजो लगेगी ?" और अचला हँस कर कहता— 'चाय का सहारा रूष पकड़ा है । और क्या तुमको यह नहीं लगा कि अचला का मन एक घर में बैठा है । वह टोर घपन से हट कुछ एण के लिये कहानी लेखकों का मन सा देता ह । कभो कभी तुम्हें घइका हुआ पाया है पर कह सका नहीं । और तुम्हारी चाय म' क्या रूष है । बिना मीने पाली नहीं । कुत्ते म भा मुके अधिक प्रेम नहीं है । मैं हूँ अरुला । तुम्हें देख कर कुछ सोच भर खेता हूँ । उस दिन जाता से कह दिया था— यदि तुम्हें सुनाल का चाय मित्र जाय तो ।'

वह प्याली उसके आँों से लगा देता । और वह धबोल कुछ भरी भरी तारा खुद बोलता नहीं । कवल जरा सा हँस, मुँह बिचका कर उस पी जाती, फिर वह कहानियाँ पर आँें ठिक जाती ।

और गाड़ी आगे बढ़ रहा थी । किमा मन का गहराई से तो उमने उसने मगध जोड़ा ह नहीं । एक वैवाहिक कार्य में वह स्वय चूक चुका है । वह अपने में लगा उसस हंग था कि भाग्य क पलड़े में आ उस उसको स्वामी मान लेना पड़ा । अपने से एक पृथक रूप में वह उन कहीं देख सका था । उसने सुना था कि उसका स्वामी काका यूको म लदा है । उसका दुनिया म रह, पैस, कह सुन कर क्या वह उमे निमा न सकेगा ? एम० ए० में फर्स्ट आये है, और वह क्या उसके लिये कम गौरव की बात ह ? फिर शादा के बाद वह उम लिवा गये थे ।

गादा एक स्टेशन पर रकी ।

सामने से उसका स्वामी हँसता हुआ, मूम कर खजा गया । सुन्दर वह है । काफ़ी 'वित्रिलाइ' भा । फिर भा वह अपने को कैमे ममकावे । वह उसस छू कर क्या कहे-सुने । अपनी सारी बातों का समझाने के लिये बड़ जाय कहीं । और एक सुनाल ? एक रामाम बना उसके पाम मेंना भर रहा ह । वह उम रूष पड़ चुका ह । उसका स्वामी—और उम-जैसा दिला लिवा युवक ! सारा कहानिया में उसका नैयारा हुई पढ़िचान भरी है । उसने कहा था— 'बबो, आज उर पास समाप्त हो चुका है । तुम्हें उमका अतिम अध्याय लिखाने आया हूँ ।' और भारा भारा आँों का सफ़द पुनखियों में एक अधपनख की छाया ला कर वह उस तक गे ।

लेकिन वह जाय भा तो कैम उमके साथ ?

रात हो की तो उसे एक अनजाने सुरक को स्वामी मान खेता है । अपनी उलकन

में वह खुद ही बैधी है। और क्या यह लाल साड़ी देर कर भी वह नहीं समझ सका है? पैरों में महावर भा तो उसने लगाया है, और हाथों में भी! फिर भी तो वह अनजान है। और मैंहदों के दास!

हाथ वह जाय कैसे? मानो वह उसे मुझना चाहती हो कि ओ सुनील! तुम हो बड़े भावुक कर्तव्यकार भी! फिर भी मुझे समझ सके? मुझे खोलने को जरूरत ही न गमभी। और मैं कैसे कहूँ, मैं भी नारी हूँ जो क्या कहीं भी कुछ कहती है? पर वह न माना था।

उसने उसे समझाया था, उसके पास अपनी टिका थकी स्मृतियों मुझना भर चाहता था। वह आज उसे क्या कह दे। उसकी अपनी चेष्टना में वह उसे क्या समझा दे? वह कहानी लेखक है। उसने बहुत सी 'केगस्ट्रीफी' लिखी है। और और मन के पास ही उसने तभी किसी को तौला भर था। किन्तु अचला टीक तो है। उसने उसे जाना है। रूठी हुई आँखों से उस हँसाया है। पर जैसे अब यह सारा दूटना दूटना भर चाहता हो। यही होनहार है।

कमरे की शाये लगी हुई बड़ी बड़ी आलमारियों के अन्दर जैसे उसकी चीख पड़ती हो। वह कमरे में खड़ी था। सामने मेज़ पर रात को देर तक लिखते के कागज़ पड़े थे जैसा वह सोया नहीं कि वह बोली—“मुझे कुछ लगता नहीं है। तुम भले हो। और इतना क्यों लिखते हो स्वास्थ्य कहीं खराब। फिर उसने उपन्यासों के कागज़ों को सीरियल से लगाया, सुनील के उपन्यास का वह मनुष्य था। वह कुछ बोला था नहीं। केवल सामने मेज़ पर बैग कुछ सोचता भर रहा था। कि गाड़ी एक जकरान पर खड़ी थी।

सुनील में कितना आकर्षण है। वह 'थिलिंग' का दीवार बना उसके मन के आँगन में खड़ा हो गया।

और शायी सामने के सीट पर बैग था। जीवन और समाज की परतों के बीच में उसने उसे सामने ही तो पाया था। पर उसे कहीं कड़ पाई थी कि सुनील मैं तुम से लग सँटगी नहीं। भावुक तुम हो। अपनी कल्पना से मेरा निर्माण कर लेते हो। मुझे मत में पास जान, अपने में खींच, तनिक हँस, मुस्करा कर कह लेते होंगे कि मैं पुरुष हूँ—तुम्हारे ट्राया में खो जाना भर चाहता हूँ! पर तुम क्या जानो कि समाज से तुम्हें भर सँटगी नहीं। और तुम व्यथ में मुझे कहानियों में डाला क्या

उमका
सा किम्क

था गया। निकट की लिङ्को पकड़
वेना भर चाहता ही कि मैं तुम्हारा

कड़वान का अधिकार भी रखता हूँ। पर तुम बोलना क्यों नहीं। तुम्हारी श्रॉलों की सुन्या के आग में सुप रहना चाहता नहीं। और तुम क्या ज्माँ हा बेटी रहोगी एसा हा ?

वह वाता—“लेट हो जाइये ! आप घर गई होंगी। अभी स्टेशन काकी दूर है। उसका अनुरोध ! स्वामी वह है। प्यार भा करे शायद ! ज्मे मनावे भा ! वह तक नहीं भा कर सकता था। वह जान में उसे शॉधि हैम ! अरने में सुखा हवी नारां था वर। और घड़ क्या कहे ? अचला सुप, मुस्करा कर, भौं कर, मजुवा कर ज़रा खिपक भर गई, जैम यहा उसका नियम था। रशाग हलस्ट्रेट वोकत्री का पहला हल कर रहा था। भरे गोर चेहरे पर मुनदरा कमाना का चरमा और वह क्या मुनील से भा अधिक अटक पास हा गया था। फिर भा सुनाल को नह भूले कैसे ? उसने वरा पूष हा ता पडा है। यहन सा समझाया ले कर यह उसे निकर पा सका थी। कई बार की चुटकी में वह उस भौंव गई था।

उसका सब स निराळा रूप मामन था।

“तुम ने मुझे इतना सहन, भाजुक थोर कलाकार क्यों बना दिया—अचला !”

पहन दिनी तर वह इसका उत्तर न द गाल मोल रही थी।

फिर वह एक धार भर गई था। सुनाल को जो मालूम हुआ तो उसने एक पत्र के साथ कुछ पुस्तकें भेज दीं। पत्र इस प्रकार था—

‘अचला !’

X X तुम नहा देख सका।

और तुम तो अब जिराना हो। मैं तुम्हें ‘तुम’ कहने का अधिकार रखता हूँ ? फिर भा तुम्हें समझा है। विश्व में इतना ऊँचा वठ गया हूँ कि अपने को भी भूजा ना रहा हूँ। तुम्हारी भाती छाया को पकड़ मैं तो कुछ ही सका हूँ, उसा को पाँच प्रतियों भेज रहा हूँ। उष याम को टीक से पड़ लेना धरदा !

और एक पत्र अपने स्वामी का भी। फिर कभा मिलेगा पमा करना !

मुनदरा,

—मुनील ।’

कि विचार टूट गया।

मुनील ज़रा हँस, मजुवा कर वाड़े हट गया। कुनी गिस्तर का बडल उठा कर स्टेशन पर रख रहा था। यहाँ उगे उतरना था। मन क पीन, मुनील था और स्वामी ! उसने कहा था—मग म मुग आश्रय देना, चाड बाहर तुम मुझे मत रखना मैं रहना चाहता भा नहीं हूँ। पर सुनाल को वह भूने कैसे ? और उसका स्वामी ? सुनाल से कम जाना भर !

स्नेह गला। चाय पनी। और तभी उसकी धुँधली रोगा में उसके स्वामी ने चुक-स्टेड में गया हुआ उपन्यास देखा। यही रात बीते जब वह सो गई, तब उसका स्वामी चुपके से उपन्यास उठा, ऊपर के कमरे में था लोट गया।

और उपन्यास अदर समपण था। उसके बाद एक भातुक चित्र—त्रिलोके त्रिलोके वालों में एक पदिकता हुई सुना। चित्र कुछ कह-सुन चुका था। लगा, उसने उसे कहा देखा भर है जैय वह जानता भर चाहता हो कि तुम मुझे व्यथ ही में ब्याह कर घर लाये म तो सुनाइ की हूँ। उसके तैयों के निकट और जो के पाम हूँ उसे वह अपन में स्वामित्व की रखायें भा छोड़ना जानती हो। बहुत आगे वह पहुँच गई थी।

दूसरे मवरे उसका स्वामी उससे कुछ बोला नहीं। बेवज उपन्यास पढ़ने में तल्लीन रहा। अचला ने कई बार अनुभव किया कि उपन्यास पढ़ते बढ़ते उसका स्वामी कभी आँसू पाँछे कुछ हँस कर साधने लगता था।

चार शाम को उसका स्वामी यही देर तक घर आया नहीं। अचला सुँदी डँकी धरी भरी बैठा भर रटी रि उम याद आया कि उसका स्वामी गद्द रात को यही देर तक पत्र लिख रहा था। खोजा, तो उसने पाया—

‘सुनील की तुम !

‘तुम्हें समझ सका नहीं। मैं भी पुरुष था। किसी को निकट देख कर पढ़ना भर चाहता था। फिर भी अलग अलग हटा रहा। तुम एक कहानी लेखक की आँखों में बैठी हो, हँसा हो। मखुलता के रंग में रंगा हो। तुम्हारा निर्माण कल्पना से हुआ है। और मैं बस तुम्हें समझ सकूँगा। तुम ठहरी भारी। तुम्हारा चित्र अभी उपन्यास में देखा, साथ ही सुखा समपण भा। सोचा—‘यदि मैं तुम्हें मर से लगा सका होता। पर मैं तुम्हें धोखा दूँगा नहीं। तुम्हारे योग्य भी मैं हूँ नहीं।

मुझे क्षमा करना !

‘तुम्हारा भार ले कर मैं चला सकूँगा वहाँ, इसलिये अलग अलग जा रहा हूँ।

‘तुम्हारा जा चाहे तो सुनाल के पास चला जाना। मुझे भूल जाना, शब्दा !

—तुम्हारा स्वामी।’

फिर कभी उसका स्वामी आया या नहीं, कौन जाने ? परसों सिनेमा गया था। सभी सुनील मिला था। मिलत हा उसने अपन उपन्यास की एक प्रति दी—और यह असह्य भार उसका हा तो एक अध्याय है न !

नीलम

नालम उगी, चादा कि जो पाषा उतरत मन में एक बग छे दिना दे, हम यह निहाज । निहाज और कह कि कुमुद, क्या मयपुर विराद का बरतन मारा को सामित कर दना है ? या कि दूर दूर कयना न जो पाषा अने नीला है, यह क्या मय हा मूठा है ? पर बोला नहीं । सुपना नाम र रह गई; सुपना छमा में मया मया भर ।

यह सारी बग कुमुद को सोचने में बाँध नहीं पायी है । नालम म हा कुमुद बनने को चपूरा पाया है । उस चपूरेवन में जो एक मइराई दे उम यह कहाँ रने ? कुछ दिनों की मन्त्रम चोँचोँ चोँचोँ में या हीम यह जागो हो कि कुमुद, मुझे दना कम ममम पाया हूँ, इमा से दूर-दूर कयना सारना बनाय रही हूँ । फिर मा । आगे विचार बजल नहीं ।

नालम या ज ता कहना किमि मारा हूँ, तिमनेगरी का एक बहा द्विमा मँनाया है । उसा में किरा को मममा पुना, हेमाया करता हूँ । वाग दूग, कुमु नीला, तो नीलम बाजा—“रामग पर कुमु लिखा था । जरा दन कर गक कर शीजियगा ।” और उतर मिखा—“आनकन आर रामग अजिक कर रही है !”

नालम कर गई ।

मुँह दौर, हेसा को राक खार से गइ गइ । गाव, यह जो सामने कुमुद नाम का पुरन है, यह दूना वाग क्यों कह देगा है ? और यह क्या हन नहीं मममना है कि नालम अजिया का छोटा छ वसो के निकट वा हा रही है ?

याग कहने को था । नीलम को सूव लगी ।

और यह सोचे क्या ? मय हा तो कुमुद कह रहा है । कुछ दिनों में जब यह गृहस्था से छूट, घर से बिग हो, रामा का निकट पायगा, सब क्या कुमुद का बाव पेसो ही रहेगा ?

या लिखा नालम के धार में जो भ्रम का दण कुमुद क मन में बन गया है, उसे यह मिटा नहीं पाया है । हाँ, कमो बनने सोचा था कि नीलम उस मझी मजा खगती है । जो कमा की जतरत उम भपराती था रहा है, यह नालम में पूरी उतरा है । जरा हँसी से, भरे गोज-गोज मुँह में कम सामित क्या रने ? चाते ही एक

उद्दास बिखेर नीलम को वह क्या माने ? जाचट की रगीन सादियों का सहारा ले, सामन सं घूम, अखबारा का पुञ्जिन्दा हिजा कहती कल थाऊँगी। शब्दा कल ! वह सुन्दर भागती हुई नीलम क्या क्या में जावन नहीं दे जाती ? यह सय कुमुद को लगा है।

नीलम अपने में ज़रा चूक जाता है। जो स्वामी का बगव उसने घनाया है, उससे उसका जी सुखा नहीं है। उसकी इच्छा है कि स्वामी से भी आगे 'कुछ' हो। यह 'कुछ' की बात वह सोचती है। इसी भावना से बना हुई नीलम आज कुमुद को बहुत बहुत उलझा देती है।

उस वार ऐसे ही कुमुद ने उसे देखा था। तब वह अपने किसी निकट सम्बन्धो के य। थाई थी। तभी सय कुछ समझा जुम्हा, मन के पास आ जम चला थी।

घातें उलझना ही चला गई थीं।

और जब सुलझीं, तब पाया कि वह नीलम नाम की सुन्दर, भरी भरो नारी में था धटका है। वैसे ही कभी वह उसके भाई का देखन घर गया था। उसका भाई है। तनिक बामारी से लगा, और यह बामारा की बात नाजम के मन में घेदा भर गई है। एव छटपटा वह उम निकाले वैसे ? कुछ बेठा, तो सामने नीलम थाई। मेया का पाड़ा मे ऊन, वह तिलमिला कर बोला—“कुछ खाइयेगा ?”

उसका भाई कुछ बोला नहीं, और वह समझदार नाजम जैसे सय कुछ समझ गई हो। गई, फिर एक तरतरी में कुछ जमा, बाहर का आँगन पार कर ऊपर की सीढ़ी पर थाई। तभी कुमुद के मन में अनजाने बात उगी थी कि यह नीलम क्या है, जो वह उसे समझ नहीं पाता है ?

फिर उसके सशोधन की याद आई थी, और अब उसकी कहानियाँ को ठीक करते समय, जैसे नीलम अपने सं बाहर बाहर हो लकीरों में था, हँस, भँर, कह जाती हो कि हाँ कुमुद, स्वागत रात ठीक कर देना। और देखो, कहीं स्पय की ठीक न कर घैठना।

उसके छोटे-छोटे बगार-भर शब्दा से लगी लगा लाहनें और डाका चित्रण ! नाजम कुछ सुझा जाता। बहुत पुरानी बात नहीं, बिलकुल नई, अपनी ही बाँके से लड़ी लदा भर, जैसे उनके मध्य की रेतार्धा में डतर, ज़रा पास था, मित्र हँस जाता बाइती हो। और कुमुद को लगता, उसमें एक जागरण फिर से स्थान बना चला है। वह उसकी यात साँचे वैसे ?

नारी की बात—नीलम की बात !

सन्ध्या की सातम घाई थी। कुमुद को पा अपने को भूत गइ। फिर सँमल, गम्भारता में आ मज्जाक ने घोड़ा—“किमा का शारी हो, और किसी को मिठाई भी न मिले ! भाई बाह !”

और कुमुद चिन्ताया—“नात्रम !”

“हाँ, कमला के साथ ! मुझसे भा अधिक सु दूर रही हागी ! है, न !”
‘नात्रम !’

नात्रम चुप था।

आज शारा का जाल एक टुक से कर गो हसकें चारों ओर उड़ रहा थी, वह कमला का हा इच्छा रहा हागी। और उससे पृथक हो नात्रम ने अपने को स्वामा में बाँ स्या पाया। दशदया कर पैठा रहा सुपचार कुछ मोचना सोचना सी।

और कुमुद बोला भा—“नात्रम, भवि य का मखौत्र उदा जरा स्वर्मा से लग हम क्या नहीं करते हैं ? प्यार शारा और सय कुछ ता।”

नीत्रम न बात का कर कहा था— अपने सत्तर बसा खने के बाद दु र होता है कुमुद ! जारी चान्ता है कि उमका दु ख सीमित न रहे। वह चागे बड़े जहर ! चाहे वह दु ख अलग ही हो पर रुक नहीं। जि दगा में रुकना पार है और चलते रहना हा पुण्य।

वह कमला नाम की नारा नात्रम के सशारे कुछ खिखी खिखा हो उठा थी। एमे हा बातों बातों में कमी उमका नाम भा आ जुड़ा था, और तमा सु दूरता का परि भापा में न आने को नीत्रम से हारो मान चुकी थी।

कुछ दिनों के बाद नात्रम बहुत गम्भीर मज्जाक बनने लगी थी। अपने उत्तर क्षयित्व स हन, वह मज्जाक कुछ बुरा चादेही लगता था। हाँ नात्रम का एक भरा भा रूप उससे बहर ही रह जाता था। हँसी को रोक फिर नात्रम बोली थी—“नाम भा ता मिलने ही हैं, पढ़ो खिखी भी। आप कुमुद, और वह कमला। ‘क’, ‘क’ क वरा !”

चागे नात्रम हँस पडा।

हँसा ही रही, जैसे हँसता रहेगी।

कुमुद नात्रम के सामन गम्भीरता में थक जाता है। और वह चाहता है कि उसको वह थकान उसे पु र न दे। चाहे मज्जाक वह भले हा न करे। और पढ़ो खिखी नात्रम का मज्जाक घर कर गया। उसने सोचा—वह जो पास पैठा नीत्रम में समाई नारा है, वह हननी गम्भार क्यों है नरा हँसा हँसा में आ दार्शनिकता से अग, नात्रम भर रह जायगा। नात्रम कमला !

धौर ?

नीलम ! नीलम ! नीलम !

जैसे नीलम में नीलम है ।

फिर कभी माँ ने उसके स्वामी के पास जाने की बात सुनाई थी ।

स्वामी ?

कुमुद खूब वेदना से भर गया था ।

नीलम का स्वामी भी है । ज़रा कुमुद से सुन्दर, स्वस्थ और अधिक पढ़ा लिखा भी । फिर भी कुमुद क्या कहे ? कैसे सुनाये कि वह स्वामी उसे भला नहीं लगता है । नीलम को अपने में छिपा, क्या वह भला रह भा सकेगा । धौर तभी नीलम मिलमिल मिलमिल साँधी हिलाते हिलाते सामने आ हँस कहती—“नहीं, नहीं, नहीं !”

नीलम की मन की बात उसकी हँसी क्या वह एक मखौल समझे ? और स्वामी ? दिमाग नीलम को दौव । जैसे चुप हो धीरे धीरे कहना चाहती हो कि यदि कुछ पहले मिलते, तो तो ।

फिर नीलम सध्या को आई । तो कुमुद कुछ बोला नहीं । चुपचाप किताब पढ़, उसी में खो, चुपचाप छेदा रहा । आते ही नीलम कुमुद को देख खिलखिला पड़ी । और कुमुद लोग रहा, यह सोचते-सोचते कि इस टुकड़ा-सी ज़िन्दगी में वह नीलम को कहाँ रखे ? नीलम है नारी, सुन्दर और पढ़ी लिखी भी । और वह आई क्यों जब उसे दूटना ही था ? विचार हटा । नीलम ने कहा था—“बढ़ी दूर से आ रही हूँ । सच ! धूप में । खूब थक गई हूँ खूब !”

तो कुमुद थककी पादा, वेदना से तिलमिलवा कर चुप न रह सका । धीरे से बोला—“दुःख से ज़िन्दगी छोटी होती है । आपके कष्ट से ज़िन्दगी का एक साल और छोटा हो जायगा ।”

सुन कर नीलम ने चाहा कि कुछ कहे । फिर बोली—“धाप भी ”
बात कट गई ।

और माँ फिर बातों में उलझा थी । कुमुद को लगा, ज़िन्दगी एक स्वप्न है । इसी स्वप्न में आ, कभी सच ही तो उसने विद्या को भी परता था । वह भी ऐसी ही थी । भली भली पूरी, समूची विद्या ! फिर शादी की शौट ले, यह भागी । उसका स्वामी और नीलम भा तो स्वामी रखती है ।

स्वामी स्वामी, स्वामी !

और तभी माँ ने फिर कहा—“तुम तो स्वामी के पास जावे वाली हो ?”

तुम बर नाजम रूप हूँसा ।

धीर कुमुद को यह स्वामी भाया नहीं । यह शायर यह कैसे बुराथ ? विद्या भी तो उसने ऐसे हा खोई है और अब नाजम—स्वामि-ग्या भीचम

नाजम ने पुकारा—“कुमुद !”

विचार डलके—नाजम भी पावगा ।

उमे यह राक कैसे मकेगा ?

स्वामी का दर्जा किय छोड़ता है ? नाजम भी उमा में गइ, और विद्या ! अब नाजम उठ कर पास आई । उस देर कुमुद तकिये ने मुँह दिवा सुपचार जेठा हा रहा । और अब नाजम ने जाना कि कुमुद रो रहा है ।

कुमुद की वेदना !

थोँक कर नाजम ने बिजगुल पाम घा, सिर पर हाय पैरा । धीर कुमुद को लगा, एक हाय की पतला पतली थोंगुलिर्षी उसके मस्तक पर गम-गम धमा है । जेमे वे अब हटना नहीं चाहती हैं, धमा ही रहेंगा ।

मन का ज़रा समझा कर यह बोला—“कुमुद, किसकी याद आ रहा है ?”

याद ? कुमुद खूब पू-पू कर रोया था । जेमे बनवाने ही कहना आहा हो कि नाजम यह तुम कहती हा, बोलो ! और क्या कोई घताने की बात याची रहा है ?

वसका भोए खे, माँ ने सुनाया कि कुमुद को कोई पात खग गई है ।

नाजम चौंका ।

आगे माँ ने बात जोड़ा थी, मुम्हारे स्वामी के घर जाने का बात से ही कुमुद को पीदा हुई है ।

धीर कुमुद ने साचा था कि यह माँ इतना सच क्यों कहे जा रही है ? अब यह सच है भा और नहीं भी ।

नाजम क्या करे ? खजा में गइ, वेदना से भोग, खूब रह गइ । फिर सच समझ कर बोला—“सिः, पागल हो ! मैं कहीं न जाऊँगी सच, कहीं न जाऊँगी सियों का भाँति रोते हो ।”

उस समय ज़रा गम्भीर हो, कुमुद बोला था—“नाजम, रोना ही ज़िन्दगी का सुख है । हम रोते हैं, यह जानने के लिये कि सुख क्या है । और उसे जान कर मुखाते नहीं । तुम नाजम हो, स्वामी रखता हो और स्वामी का भारतीय अधिकार मुम्हें रोक नहीं सकता ।”

नाजम कुछ बोली नहीं । हाँ, उसकी आँखें भर आई ।

जब मैं चली गई, तो कुमुद फिर बोला—“नीलम, तुम जिल्लती रग्या। स्वागत गात और कहाँनिर्यो भा। और पाना कि तुम्हारे जिल्लने में मैं हो हूँ।”

नीलम चुप रही।

फिर बाहर को भली भली नमस्ते में उसे दूर का कुमुद जरा हलका हुआ—
तो मैं ने सुनाया या कि तुम्हारे चले जाने के बाद नीलम बड़ा बेचैन रही—पूछती
था कि कुमुद क्यों रोया ? और मन से उल्लस स्वामी से छु मेरी धोती में छिर नीलम
भी बड़ी देर तक रोई थी।

नीलम भी रोइ ।

कुमुद चींका। नीलम में अपनाव आया। सोचा, सच ही क्या नीलम नारी
है। नीलम नारी ।

फिर एक सन्ध्या नीलम बाहर का दरवाजा पार कर अ दूर पहुँची और कुमुद
उसे पा, अपने मे बाहर आ, भाँप भर गया था कि नीलम ही है। जो मन में छिपी
छिपी नारी का एक भराव है, उसे नीलम से मिलता जुलता पा, वह बिजबिल्ला
पड़ा। नीलम बैठा, तो कुमुद बोला—“अपनी चीज़ देती है ?”

सुन कर नीलम मुँह छिपा कर हँसी थी। और कुमुद ने ‘माधुरी’ की प्रति सामने
की। नीलम पढ़ने में खो गई। और जब जागी, तो पाया कि वह कशानो उसे अच्छी
नहीं लगता।

कहानी ? हाँ, वह भी तो एक कहानी ही है !

नीलम कुछ सचेत गई। चुपचाप ही सुरचाप प्रति बन्द कर बैठ गई।

कुमुद ने पूछा—“कैसा रही ?”

नीलम ने चाहा कि वह कहे, आप ठोक नहीं लिखिते हैं, और मिलन वियोग की
छाया के नीचे हम एक-दूसरे को क्या पहिचान न सवेंगे ? मन भार बोझी—“आप
ने यह सब क्यों लिखा ?”

आगे नीलम भावों में खो गई।

कुमुद ने बात पकड़ी। बोला—“नीलम ! यह तो मैं भी नहीं जानता हूँ।”

उस दूर का नीलम में वह बात धर कर गई। नीलम की बातें कुमुद को अब
भली लगती हैं। मन से उल्लस वह उन्हीं का निर्माण कर चुप रहता है।

और एक सन्ध्या को कुमुद ने जाना कि नीलम स्वामी के पास ता रही है।
उस दिन वह उसके विषय में उसे समझाना रहा। और फिर कमरे में घुसा,
कागज़ पर पेंसिल की रेखाओं से रात को मनबहलाव करता रहा। जैसे वे रेखाएँ
उसके मन में एक अभाव का प्रति कर लिवी विधी, गहरी गहरी हो उठा हूँ। उहें

रबड़ स मिटा-मिटा यह मुचिप्त नहीं हो पाता। और घबड़े से रेशमों एक नारा का रूप ले रही थीं। देख, कुमुद ने जाना कि नीलम का है। चुपचाप कागज़ पर खड़ी है और कुछ बोलती नहीं है। जैसे अब वह गूँठ ही रहेगी। स्वामी न जग कर उस मूकता की राह में क्या वह याथायुक्त हो सकेगी ?

तभी जैम चित्र में नीलम घाई।

और कुमुद न धीरे से पम्बिल का 'गेड दे कागज़ पर डम बाँधा।

यहाँ सुबह नीलम को जाता था। कुमुद रात भर, जागता चित्र बनाता रहा।

जैम दूर पर यह नाकम को देख चौंका।

नालम, नालम !”

पर नीलम में उसका डम था।

नभा नालम का तौंगा छाया। पीछे जरा परदे में नालम और आगे उसका स्वामी। कुमुद आगे बढा और नालम डमे देख हँसी नहीं। थ्रुटा स भर, स्नेह से लग, यह बैठी हा रहा। तभी कुमुद तनिक पाम पहुँच, सधा-सधा कागज़ का एक बगइल भीतर फेंक कहता-कहता एक और चला गया कि 'नीलम, तुम आना। आना जल्द। यह तुम्हारा चाज़ है। मैं हारा, तुम जीती—जीती।' आगे कुमुद घूट-घूट कर रो दिया। रोता हा रहा।

नालम ने बगइल उठा कर देखा—एक झिल्ला पिछरी नारी ज़रा झिझी झिझा बडा थी। और उग्य अपनी-नी पा, यह रो डग। आँखें स्वामी पर रकी, जैम मुदल्ला पाइना हों कि तुम हो स्वामी ? बाबू, तुम हो ? और कुमुद को यह क्या करे ?

नीलम रो रही थीं।

तौंगा खज रहा था।

उसका स्वामी कुछ न समझ सका।

नीला डोरा

उससे जो मिला, तो वह सकुना, लजा, मुक कर आँखों में टिक गई। अपने से बाहर वह नहा थी। दूर दूर जीवन के किनारे से टूट, सिकुड़, सट कर पास आ गई पर बोला नहीं कुछ। सुपचाप रही—केवल हँसता सी। उसने भी सब कुछ सोचा होगा। शायद खुद भी जाना चाहा हो। सुनापन मेला था, मन में किसी को समझा मुझा कर मनाया था। उस रचना को वह पाता कहीं थी? अपने में खोकर वह उसे दबाये थी। तीन साल से उसकी माँ उसे मेरे जीवन में घुला देने की सोच रही थी। कुटुम्ब के सदस्यों ने भी बातों बातों में मुझे ही चुना था।

और मैं भी तो एक सन्ध्या को उसके यहाँ पहुँच गया था। तब वह ज़रा पास था, आगे खिसक कर मुझे पढ़ लेना भर चाहती था। अपने में चूकी थी वह। एक के भीतर सीमित उसके नारी सुलभ आकर्षण की समझा था। वह कुछ निकट आती गई और फिर कई घुरे-घुरे साँझ टल गये, उठर सका नहीं। उसे उत्सुक बना, रखा धुल्ला कर चला आया, पर वह जैसे पास ही रही। मन में बहुत निकट थी, जैसे वह धोखना भर चाहती हो कि मैं तो नारा हूँ। तुम से छिपा नहीं रहना चाहती, और तुम क्या सदा दूर हा रहोगे? जी चाहता है तुम्हारी छाया को पकड़कर बन्द कर लूँ, पर कह पाती नहीं कि थो जीजा, तुम जीजी हा मैं यों छिपे रहो? अपने पास तुम्हारा मन अटका देख सब कुछ पा लेती हूँ। तुम्हें देख कर जी भरता नहीं। और जीजा सब हा तो तुम जीजा से भी निकट की छाँज हो मैं तुम्हें जीजा ही में क्यों सामिल रूँ। अपने में क्यों न खोल देल भर लूँ।

उस धार को धारस आया, तो भाभा ने बताया कि कमला बड़ी भावुक है। चार-पाँच महीने के बाद भी उसमें एक अपना अपनत्व है। वह अपने में छिपी धारी नारी कमला को अपने से बाहर नहीं पाता रहा थी। बातों का जवाब नपा तुल्ला देता। उसकी हार में भी एक जीत रहती। बचपन की सरलता के साथ साथ गहरी चुगकियाँ तक उसे पदा था। भाभी की पहिन में अपने को निरूप पाता रहा। तान साल की आवरयकताओं को उसका भरा भरा मुग्य देख कर सिखाया था। इलाउज से सादियों तक उसे उलझा पाया था, और अब यह कमला के रूप में मानो विरानी

न रही हो हँस खेज, दिग्भ्रम रुठ कर पास था, मानो गर्भार, मायुक्, घेबोल हो, उर हो जाता हो। फिर भी जैसे वह दूर इटना नहीं जानती है।

भाभा ने मुझे खय मँपा है। दहा का खाद में पुरवों की भावुकता को समझा है। वह अपना मूल में एक जाती है। पर वह कुछ नहीं पाती। कमला के बारे में कभी कभी वह कुछ कह लेती है। अपने से दूर होना भर उसने सोखा है, पाँच साल की भरा भी बातों में वह एक दुयक गइ है। कमला की छाया को छुना चाह कर भी वह अलग अलग इट ज़रा संभल जाना चाहती है, पर कमला के स्नेह को वह झटका नहीं पाती है। ऊपरी मन से उसे दहा धार से हँस, पास था, उसने भी कभी कहा था कि कमला इत घर में नहीं आ सकता है। फिर कभी बताया था कि हम और दहा सगे भाई हैं और भाभा और कमला ? पर उसे अपने से दूर कर सका नहीं ! कमला को अपने पास से—पास देखने की चाहना कर के भी उससे कह न पाता था। उसा दिन ज़रा यूँ ही जी चाहा कि कमला को कुछ लिख दूँ। बात पकड़ ली और लिखा—

कमला पर कलम खला नहीं। विचार मन में हा रह गये। सोचा, वह भी नारी है किसी को ज़रा मा देख हँस भर देना चाहता होगी, और मैं भी तो पुरु हैं। दोनों प्यासे हैं। लगा भाभी आ रहा है। पीछे देखा तो सच, भाभा कब की खका पर देख रहा थी। मैं कुछ भँप गया। पत्र फाड़ कर फेंक दिया। पर भाभा नेसे सब कुछ जान कर दिल में उतर चुकी थी, बोली—“तुम्हारा यह लिखाव ठाक नहीं है। कमला को बदनाम करने की कोशिश क्यों कर रहे हो? अब की बार जब मैं कानपूर गई थी, तब पिता जी कह रह थे कि राजन को कमला के पास पत्र लिखने को मना कर दो यह ठाक नहीं है।”

मैं कुछ बोला नहीं। बेचल सोचा, चाहे भले ही भाभी की छाँसों में वह छूट हट कर पृथक हो जाये, पर फिर भी उससे दूर रह न सकूँगा। नारी को विछला भाजनाओं के आगे वह घूमती जायगी, पर दूटगा नहीं। और चार साल की स्मृतियों में यह क्या अपनी खोई हुई सूरत आँक न जायगी। कमला को पदा है, उसे समझा है। वह समझ अधूरी समझ से मिल कर उसे अलग न कर सकगी। और अभी वह भा नारा है अपना कमला के लिये भी उसे चिन्ता नहीं है, मैत्रिक की पराधा में जब वह फस्ट डिवाजन में पास हुई था, तब भाभी ने उस रला, मना कर समझाया था कि राजन स कभी-कभी पूछ लिया कर, वह भी तो अपने हैं और अब !

उस दिन सिनेमा गया तो देखा कमला अदर एक युवक के साथ पास ही घेटी कुछ कुछ कर बातें कर रही थी। दिन कुछ दूट गया, खोजना चाहने पर भा खोज न

सका। जगा जैसे थर वह कमला है नहीं। उसकी पास-पास हँसी में अपने को खोने की इच्छा रखते हुये भी मैं उससे सट न सका। केवल चुप ही एक थोर धैर्य रहा कि वह युवक बोला—“कमला, मैंने बी० ए० में हिन्दी खे रणो है। इसलिये समय ज़रा कम मिल पाता है। जो भर खाना चाहता हूँ, पर 'स्टडी' में धटक कर रह जाता हूँ। और तुम तो खाली रहती हो। तुम्हीं आ जाया करो न ?” और कमला हँस कर बोली—“आप तो बहुत व्यस्त रहते हैं, और मैं ।”

कि आगे कुछ सुन न सका। उस दिन न जाने क्यों, सिनेमा म मन न लगा, जो उचाट हा रहा था। 'स्क्रीन' की ओर देखते हर कर भी कुछ समझ पाया नहीं।

फिर कमला कुछ बोली नहीं। मुझसे जीती हुई नारी कमला को प्रबोध पडा रहा था। घर आ कर सुना कि उसा प्रयाथ के साथ उसका जीवन बँधन जा रहा है। और शान्ति ३६ साल की सरस बालिका बढ़ती हुई हँसी में अपने को पाया था। यह मुझमें धुला शान्ति, हृदय के पाम था मानो कह चुकी थी, कि थो चाचा, मैं छोटी सी हूँ, इयादा समझ नहीं पाती। फिर भी तुम्ह पाया है। तुम जो कहोगे उससे दूर न रहूँगा। रूठ, हँस, खल और खुल कर वह मुझे रो चुकी है, वह कमला को खू जानती है। उसकी धरा भरी सकुचाई हुई आदतों से वह खूद हिलक गई है। मामी के साथ जब उस पार वह पहले पहल कमला के घर गई थी, तभी उसने चुपके से कहा था—“बाचा! आज मैंने मौसी को देख लिया है। कल उसे यहाँ बुला लाऊँगी, तब आप भी देख लेना।”

उसके बाद वह प्राय तीसरे चौथे दिन कमला के घर जाती।

खाने को धैठा, तो शान्ति ने सुनाया कि आजकल मौसी प्रबोध के साथ अधिक खुशी रहती हैं। नाना उसे खुद बुला कर बातों बातों में मौसी को अटका फँसा कर अलग हो दूर दूर हट जाता हैं। पर वह मुझसे हटती नहीं। कभी-कभी आपकी बातें पूछ हँस भर देती हैं। जैसे उसने कभी आपको जाना हो, पर प्रबोध फिर उसे बातों में लगा पास कर लेता है। कल जो मौसी के घर गई, तो वह पहले से ही धैठा था। मुझ देख कर मौसी उसके पास गई नहीं। मेरे पास बैठे-बैठी आपकी बातें करती रहीं और वह चलते समय धीरे से बोला था—“कमला, तुम न जाने क्यों, रट रहा करता हो ? मुझसे भी अधिक वह लड़की तो है नहीं।”

और मौसी इसका उत्तर दन के लिय बाहर गई। मैंने सुना, प्रबोध को जाते हुये वह सुना रही थी कि प्रबोध तुम नहीं जानते। अगर जान लते, तो कितना अच्छा होता। प्रवरदार

मतीजी है, जो उसके सम्वन्ध में कुछ कहा।

भरे पाय का कर बाजा—‘शान्ता कुछ न्यायगा, कमी कभामो का थाया कर।’ प्रबोध शौलों के पास था गया, पर मन से खग कर इट गया। चंचल भायुक पुत्रक था। उसने भी कमला का भौं कर कुछ कहने को साथा होगा।

शर एक दिन प्रबोध का निमग्रय थाया था दायत का। नीचे कमला के भी हस्ताशर थे। दिन भर साथ में चला गया और शाम को यह प्रबोध और कमला स्वय था कर घर पर मित्र, ता मैन देखा कि कमला में कोई विरानापन नहीं था यह सदा का नारा कमला पास था माना बाजना भर चाहता हो, पर बौज पाती न था। इस साहा में द्विध धरा एक रेखा सा उसका हँसी को भी धरने से बाहर न पाया था, पर यह नीचे पाम भाने म कुछ लगने लगता थी। धरने को द्विपाये भर दूर रही कि प्रबोध बाजा—‘आज पिकनिक का प्रोग्राम है। थायको भी साथ ज चलो को श्री कर रहा है। दायत भा है।’

और कमला, प्रबोध क पाम धैडा दुई कमला ने जरा देखा, तो और भी नीचे सरक कर पास आना भर चाहता हो। शौलों शौलों में कुछ कहा। हृदय के परतों के नीचे यह उतर गई, पर कुछ बोला नहीं।

और मैन साथा, सोचा और सोचा कि प्रबोध कमला के मन रो बँवा है। उसका हँसी में कुछ ग्लोब कर अटक भर जाना चाहता होगा। यह भी मनुष्य है, स्त्री का दया में धरने को सुला जगा कर सुला होना ही चाहता होगा, कि कमला बोली—‘चलिये मित्र प्रबोध। राजन था ही पावेंगे, देर हो रही है। कमला का विरानापन धव भी शौलों म दूर रहा। चौदह साल की कमला जिसे छोट से बड़े होने तक एर पदा था, उसमें परायापन धव भौंप, दख, समझ सका नहीं। फिर भी कुछ खग हा गया, पर प्रबोध नहीं माना। साथ हा शक्ति को भा ले चलने को कहा। मैन जाना न चाह कर भा चला दिया। रात भर कमला चुप रही। शान्ति ने भी अधिक उसे तग न किया। दायत भर कमला लिखा लिखा रहा। शौलों के आग पर मन के पावे। चलते समय प्रबोध ने सुनाया कि मेरा विचार धप का गरमी में मसूरी जाने का है। साथ ही कमला भा जानेवाली है। उमी प्रोग्राम की तुशी में यह आन का दायत है।

तीये दिन कमला को पत्र लिखा—

‘कमला।’

तुम धोलोगी नहीं। मेरे तुजाने पर भी नहीं। फिर भा जीये तुम्हें धोजना पड़ेगा, प्रबोध के साथ जाने के लिये मैं तुम्हें मना करता नहीं, पर फिर भी तुम्हें पास रख

जी भर देख लेना चाहता हूँ। और तुम भा तो नारी हो आँसों की मानी और हृदय की पहिचानी हुई। शान्ति को भेज रहा हूँ। अपना चित्र दे देना अच्छा।

तुम्हारा,
राजन

फिर शान्ति को बुला कर पत्र दे समझा बुझा बोला—“इस अकेले में मौसी को दना, समझी ?”

और शान्ति चले दी। बाहर देखा, तो प्रबोध और कमला खड़े कुछ बातें कर रहे थे। वह रुक सका नहीं। सीधा अंदर चली गई। वहाँ नानी से जो कुछ उसने पाया उसमें वह मौसी का भूल गई। लौट कर आइ, तो कमला अकेली थी। उसकी आँसू जैसे भरी भरी थी। और उनमें मानो सारे विश्व का उपहार भरा था। वह बोली नहीं केवल शान्ति के पास चुप था खड़ी भर ही गई। और शान्ति जैसे उसे छोटी हो कर भी पढ़ चुकी थी; कुछ भौंचक सजुषा कर बोली—“क्या राजन चाचा की याद आ रही है ?”

चुप !

अब की बार शान्ति ने पग थाने बढ़ा कर कहा—“मौसा, चाचा ने दिया है।”

कमला सहज गई। सोचा, वह भी अपना है ज़रा सोच, पास आ, कुछ पढ़ लेना भर चाहता है। और क्या प्रबोध से भी अधिक वह कि प्रबोध का चित्र सामने था। वह भी मनुष्य है। अपनी धरोहर में उसने भी किसी को पाया है। लेकिन वह करे क्या प्रबोध और राजन !

अब से बहुत बहुत पहले उसने उसमें एक बात पाई थी। उस दिन वह कालेज स था कुछ कह लेना चाहता था, और वह लज्जा से दूरी, मुस्कानों से डँका कुछ बोली नहीं थी। गोलरिंग पर रमाल कसा था, आँगुलियों में नीले डोरे की सुई उलझी थी वह कुछ चुन रही थी कि उसने आते ही सुनाया था कि मेरा बटन टूट गया है कमला और वह ज़रा सा हँस, मुक, चुल कर उसे उस नीले डोरे से टँक भर गई थी। सिद्ध की पतला कमोज़ पर गीजा डोरा भर उसने धरा था। जैसे वह दारा उसके मन में उतर कर बसा देना चाहता था कि ‘ओ राजन ! यह भी एक नई चीज़ है, तुम्हें सदा पाम रखने के लिये ही कर रही हूँ। और तुम क्या इसे चमत्कार करोगे ?’ कि शान्ति बोली—“मौसी, चाचा कल कह रहे थे कि अब हलाहावाद जाऊँगा। यहाँ प्रेसिडेंट कुछ चलती नहीं है। तुम्हें बुलाया है, शाम को खली आना।”

दूसरे दिन पाक गगा, तो देखा कमला भी वहाँ थी। मिलते ही उमने नमस्ते किया, फिर कुछ दूर हो जैसे अलग हट समझ गई थी।

मरे पाप धा कर बान्ना—“ताम्बा कुम्भ खायगा, कर्मा कर्मा तो धा जाया कर।” प्रबोध चौधों के पास आ गया, पर मन से खग कर हट गया। संवत्त भागुड पुत्रक था। उसने भी कमला का भौर कर कुम्भ कइन को माथा हांग।

धीरे एक दिन प्रबोध का निमन्त्रण आया था दापन का। नीचे कमला के भाइस्तापर ध। दिन भर त्याग में खजा गया थीर नाम का जब प्रबोध धीरे कमला खप धा कर पर पर मिथे, ता मीन देला कि कमला में कोई बिरानापर नहीं था, पर रादा धा नारा कमला पाप धा मातो घोषना भर थाइल। हो पर बोझ पाती न थी। हरा राधा में दिना परा एक रक्षा ती उमका हँसा का भी खरने म बाहर न पाया था, पर वह नैप पाप धान म कुम्भ खगन खगता थी। खरने को दिवाप भर दूर रही कि प्रबोध बोला—‘धाज विरुक्ति का प्रोगाम है। आपहो भा साथ छे खजने को न कर रहा है। दापन भा है।’

धीरे कमला, प्रबोध के पास धैदा दुई कमला ने जरा देला, ता धीरे भा जेवे सरक कर पाप धाना भर थाइता हा। चौधों चौधों में कुम्भ कडा। दरप के परतों के खने यह उतर गई पर कुम्भ बोझा नहा।

धीरे मीने साधा सोधा धीरे साधा कि प्रबोध कमला क मन से खेजा है। उमका हँसा में कुम्भ ग्राख कर घटक भर जाना थाइला होगा। यह भा मनुष्य है, रो का धाया में खरने को सुजा जगा कर मुखी होला हा थाइता होगा, कि कमला बोझा—“बलिये मिसर प्रबोध। रातन धा हा जापेंगे, दूर हा रहा है। कमला का बिरानापर भर भा चौधों म दूर रहा। धीरे साज की कमला जिसे छोटे-से बड़े होने तक पूर पदा था उममें परावारन धय भौर, दूख, समझ सख नहीं। फिर भी कुम्भ खग हा गया, पर प्रबोध नहीं माना। साथ हा शांति को भा छे खखने को कडा। मी जाना न थाइ कर भा खख दिया। रातने भर कमला पुत्र रहा। शांति न भी अधिक उमे तग न किया। दापन भर कमला सिचा सिचा रहा। चौधों के धामे पर मन के पीछे। खजते समय प्रबोध ने मनापा कि मेरा विचार धय का गरमो में मसूरी जाये का है। साथ हा कमला भी जानेवाहा है। उला प्रोगाम की खुशी में यह धाज का दापन है।

धीरे दिन कमला को पत्र लिखा—

“कमला !

तुम खोजोगा नहीं। मरे पुजाने पर भी नहीं। फिर भा जेवे तुम्हें खोजना पवेगा, प्रबोध के साथ जाने के जिये में तुम्हें मना करता नहीं, पर फिर भा तुम्हें पाप रख

जी भर देख खेना चाहता हूँ। और तुम भी तो नारी हो शौखों की मानी और हृदय का पहिचानी हुई। शान्ति को भेज रहा हूँ। अपना चित्र दे देना अच्छा।

तुम्हारा,
राजन”

फिर शान्ति को बुला कर पत्र दे समझा घुम्ना बोला—“हम अकेले में मौसी को दना, समझी ?”

और शान्ति चले दा। बाहर देखा, तो प्रबोध और कमला खड़े कुछ बातें कर रहे थे। वह एक सकी नहीं। सीधा अन्दर चली गई। वहाँ नानी से जो कुछ उसने पाया उसमें वह मौसा को भूल गई। लौट कर आई तो कमला अकेली थी। उसकी शौखें जैसे भरी भरी थीं। और उतमें मानो सारे विश्व का उपहार भरा था। वह बोली नहीं, केवल शान्ति के पास चुप था पढ़ी भर हो गई। और शान्ति जैसे उसे छोटी हो कर भा पढ़ चुकी थी, कुछ भाँप सकुचा कर बोली—“क्या राजन चाचा की याद आ रहा है ?”

चुप !

अथ की बार शान्ति ने पग आगे बढ़ा कर कहा—“मौसी, चाचा ने दिया है।”

कमला सहेज गई। सोचा, वह भी अपना है ज़रा सोच, पास आ, कुछ पढ़ लेना भर चाहता है। और क्या प्रबोध से भी अधिक वह कि प्रबोध का चित्र सामने था। वह भा मनुष्य है। अपनी धरोहर में उसने भी किसी को पाया है। लेकिन वह करे क्या प्रबोध और राजन !

अब स बहुत-बहुत पहले उसने उसमें एक बात पाई थी। उस दिन वह कालेज स था कुछ कह लेना चाहता था, और वह लज्जा से इथी, मुस्कानों से ढँकी कुछ बोली नहीं थी। गोलरिंग पर रमाल कसा था, श्रृंगुलियों में नीले डोरे की सुई उखली थी वह कुछ चुन रही थी कि उसने आते हा सुनाया था कि मेरा बग्न टूट गया है कमला और वह ज़रा सा हँस, भुक्, खूब कर उसे उस नाले डोरे से टॉक भर गई थी। सिद्ध की पतला कमाज़ पर नीला डोरा भर उसने धरा था। जैसे वह डोरा उसके मन में उतर कर बसा देना चाहता था कि ‘ओ राजन ! यह भी एक नई चीज़ है, तुम्हें सदा पास रखने के लिये ही कर रही हूँ। और तुम क्या इस चमन न करोगे ?’ कि शान्ति बोली—“मौसी, चाचा कब कह रहे थे कि अथ इलाहाबाद जाऊँगा। यहाँ प्रेन्सिस कुछ चलती नहीं है। तुम्हें बुलाया है, शाम को चला आना।”

दूसरे दिन पाक गया। देखा कमला भी वहीं था। मित्रते ही उसने किया. फिर कुछ दर

मने कहा—“कमला, मेरी भी कुछ सुन लो। मैं थोड़ा अधिकार रखता नहीं ? फिर भी जो करता है कि तुम्हें शौच भर, जो भर निहार पास रख लूँ। तुम जीर्नी और मैं हारा। प्रबोध को अपना स्थान देकर मैंने जाना कि कमला अब विरानी है। मसूरी-टूर की खुरी में भी विरानी रहेगी। लगता है कि तुम मुझे धमा करोगी नहीं। इलाहाबाद जा रहा हूँ, तुम्हें चिट्ठी लिखा था कि कि बात अधूरी रह गई। प्रबोध बीच में था गया। उसे पाम कर दूर हट जाना पड़ा। कमला एक और सरक अटक गई।

शाम को शान्ति के हाथ एक सिक्क की कमीज और एक पाँच रुपये का नोट कमला के पास भेजा।

खाला, तो उसने वही पाया जा आज से चार साल पूर्व मिला था। कई बार धुलने के कारण फट चला थी। उसी के छद् में उसा क हाथ का भरा हुआ 'नीला डारा' ज़रा हलका हो टूटना चाहता था।

फिर उसने पाया कि एक शाम का मैं गाड़ी में बैठ स्टेशन की ओर चल पड़ा था। इलाहाबाद का ट्रेन आई। मैं चढ़ पाया, तो मिगानल के पास एक तौंगे में बैठा कमला कुछ सोच रहा था। उसके हाथ में एक कमीज थी जो कई बार धुलने के कारण फट चला थी। उसी के छद् में भरा हुआ 'नीला डारा' ज़रा हलका हो टूटना चाहता था।

झाया-गीत

प्रभा अपने भीतर अब कोई बात पाने लगा है। मन में जो एक पीड़ा जमी है, उसे वह छिपा नहीं पाती है। कुछ म्यथहार से हट ज़रा सामने हो, वह पीड़ा अँखों-अँखों में ही न रह, जैसे हँसती हँसती कह जाती हो कि प्रभा, देखो, तुम टूटना मत। समाज, ससार, लोकाधार तुम्हें क्यों उलझायें ? जो बाहर है वह तुम्हारा है और उसी पर टिकी टिकी तुम रहना। इस बात से प्रभा का मन कुछ कठिन हो आता है। उस कठिनता की तह में एक हलकी छाया देख, वह सिहर उठती है।

ज़िन्दगा में उत्तम की कुछ ऐसी पकड़ आई है कि उसे याद नहीं रहता कि वह उत्तम है, और जब कि स्वयं प्रभा, वह प्रभा है ज़रूर, पर उत्तम से हटने की बात होता है, वहाँ दिल का एक कोना पाली हो जाता है और वह कोना भारीपन से भर आता है। इतना भारी कि बैठना नहीं भाता है। और तभी उस चर्बी खड़ा प्रभा से उत्तम जैसे कहने लगता— प्रभा, ज़रा अपने को समझा लो। मैं यही चाहता हूँ। तुम रहो, रहो ज़रूर; पर अपने से बाहर क्यों रहो ? और जो दूर, बहुत दूर, वहाँ पर अँखों का टिकाव एक लकीर सा बन तुम्हें निहार चुका है, वह क्या अब ऐसा हा रहेगा ?

फिर वह क्यों उसके लिये बहके ?

एक अनजान पीड़ा लिये खिली खिली रहे वह; पर उत्तम से भर्त्सा भर। यही उसने जाना है। उत्तम उसका दूर का सम्बन्धी है। यह सम्बन्ध उसने सोचा है। कई बार घरों उसमें उलझी। तब वह यह जानना चाहती था कि उत्तम उसे क्यों शरवा लगता है।

बात ज़रा उमरी।

उस बार वह क्यों उसके सामने सोई-सोई सी रही ? और सिर की घोंटा का एक सिरा ज़रा हटा हटा रहा होगा, उसमें सटी सटा, पतली पतली अँगुलियाँ भी और समीप उत्तम, पीछे मैं। तब क्या उसने समझा न हागा कि प्रभा ज़रा अलग नहीं है ? हाँ, एक महान में आ, मनमुक्कान कर जेटी-जेटी रहना चाहती है। और उत्तम ने मैं की थोट ले सुनाया था—आजकल दिन में नाँद अधिक आती है।

प्रभा मञ्जाक के बाहर ही ठहरा। धैमी हा रहा और हिला नहीं जैसे पास का मन में कहा—“मुनी जा, मुझे छोटी ही रहने दो। समाज का पर्दा कहीं तुम तक आने देता है? ज़रा ऐसे हा भर जाती हूँ।” प्रभा कुछ बोली न था। मन की विवशता को गाप उस तौल वह समझ चुकी था। चाहा कि कुछ बोले, पर मन मार रह गई।

और तब उसने देखा कि सामने जो पुरुष बैठा है, वह एक पहली सा हो, मन के नाच उतर रहा है। उसमें एक गहराई है।

फिर एक हलका स्वस्थ भँगवाई ले वह हिला। ज़रा मुँह खोला पाया उत्तम ही है। आँखें भीच विचारों में खो गई। साधा, गुस्ताबा साधा के एक दिरे से बिखरे ज़िन्दारे बाल और उनमें अस्त-यस्त में क्या ऐसी हा पडा रहूँगी? और क्या उत्तम इसे समझता नहीं है?

और माँ?

शब वह कुछ किम्कनी थी कि पीछे मे दो हाथ आ कर साधा पर रुक गये, कुछ आगे बढ़ साड़ी सँभाली और फिर रके हा रहे। उन हाथों का स्पर्श वह सह चुका है कि माँ पीछे से घूम सामने आई, कहता कहता—“प्रभा, ऐसी हा रहेगा? न लाज, न शरम जा अन्दर ले।”

पर वह उठी नहीं।

ज़रा दब दबा चार से डँका छोटा हा रहा। जैसे कदना चाहती हो कि मुझारा क्या जाता है? मैं लेने हूँ, मुझे छोटा हा रहने दो न! और यह उत्तम उममे लाज? छि! फिर माँ कुछ बोली नहीं। और तभी वह उठी, धार से साधा सँभाला फिर म-पर गति से झुक थादा सा हँस, उस भाँप, एक घोर अखबार हिलाता हिलानी चली गई। और उत्तम को लगा कि यह नारा अरगा भावनाओं को विनोर, ज़रा खुली खुली मन में आ ठिक भर गई है। एक घटना से सट, जिन्गा को हटा, वह प्रभा क्या पूसा हा रहनी—और बोलेंगी नहीं?

जब उत्तम चला गया, तो वह कुछ ढोली हो पास आई। मन भरा था, जहाँ पर थोका सा था, वह स्थान खाली हो गया था खाला ही रहा। शाम को माँ ने उत्तम के सामने खोी रहने के जिये जली रुने सुनाई। तब उत्तम सामने नगा, पर वह लुप ही रहा। तब उसका मन कह रहा था—क्या माँ मुझे समझती नहीं है। और फिर उसके विचारों से यह बात अनायास ही लुब गई कि उत्तम वही सा है जिसे देख, मुन समझ माँ खिखी खिखी मुझाता कि प्रभा, तू इसी के साथ जायगा, जायगी और रहेगी।

और अथ उत्तम जैसे कह उठता—“हाँ, हाँ, प्रभा, तुम मुझमें अपनी बातें दिया देना और पाना कि मैं तुम्हारा हूँ।”

उस बार ज़रा उत्तम रूठा, चलने चलने को हुआ मों पास था थोड़ी—“उत्तम ! तुम्हारी जिम्मेवारी ज़िन्दगी में अधिक है। मैं कहती हूँ कि मेरी प्रभा रानी भी इसमें से कुछ हिस्सा बँग ले।”

फिर मों यह सच क्यों करती हैं ? एक पुरानी थोती याद लिये वह जीवित रही है। और उसने सोचा, उस बार पेमे ही उत्तम का नाम उसके सामने लिया गया था। तभी एक श्रद्धा ढोंट उसके समीप वह पहुँच चुकी थी। और आज ?

ठीक, ठीक, ठीक !

वह उत्तम से क्यों हटे ?

उस रात वह जो भर सो न सकी। एक मानसिक गृहस्थी में था जैसे वह अपना स्थान समझ चुकी थी। और फिर उत्तम कभा आया था, कुछ सँभला सँभला। और वह अथ क्या करे ? जो एक सुख बना है, वह सुख उत्तम का सहारा ले सामने खड़ा है। मों थी नहीं, वह कुछ सकुचाई। फिर छोटे भाई के साथ गिलास में भर कर कुछ भेजा। उत्तम बैठा रहा सोचता सोचता कि यह जो नारी प्रभा है, वह कितनी व्यस्त रहती है। जैसे काम में जुग, अपने को भूल, वह अवकाश नहीं पाती रही है।

आनेवालों की पूरी विक रहती है, ज़रा कभी-कभी ढोंट छपट भी करती रहती हैं, और तभी मेज़ से गिलास पकड़ा, कहते-कहते—“अभी अभी मैं चाय पोकर आया हूँ।”

और अन्दर प्रभा ने तुनक कर सोचा, पी भाये हो तो एहसान क्या, मत पियो ! कोई मुज़त की थोड़ी ही है !

विनोद ने सुनाया—“दीदी, आजकल चाय का विरोध कर रहा हूँ। वह नशा है। स्वास्थ्य के लिये नुकसान करती है !”

और उत्तम ने वह गिलास उठा, फिर सोचा, ऐसी सर्दी में यह शयत क्यों दिया गया है ? तभी उस गहरे रंग के गिलास का धूमिल छाया में उसे प्रभा का हँसता हँसता मुँह दिखाई पडा। जैसे कहना चाहता हो कि पीना हो तो पियो और अथ तो तुम्हें पीना ही पड़गा। उत्तम ने एक घूँट उतारा।

क्रिया की शीट छे, प्रभा ने देखा—वह सर्दी को यथा शयत के साथ खेल रहा है। और उसने चाहा कि वह प्रभा का सारा शयत क्यों न पी जाय ? कि प्रभा ने पुकारा—“उत्तम !”

अधूरा मिलन

जगो ने छोट ही छोट बहा—“तो मैं क्या करूँ बान् ! अगर तुम्हारी नहरों में मैं मली नहीं हूँ, तो मुझे मेरे बाप के घर भेज दो। मैं समझूँगी कि मेरे भाग में क्या लिखा था !”

बीन् हँस दिया। उस चौधरे में ठमकी देता मैं एक भरीपन और अचिरवास का इलका रग भरा था। वह अचिरवास जो स्वर्ण हा दो चौखों के बाप एक दावार का काम करता है—जिसमें पूणा, अचरुका और उपेचा के बीज बढ़ कर वृषाकार हो जाते हैं। माना यह कह रहा हो—बान् ! तुम जगो की बलम्बा हुई बातों में न आ जाना यह तो नारी का स्वभाव है। इसी में तो वह अपने किये हुए अतीत के पापों को दुबका खेतो है, इसी में तो उसका साधा अधूरा स्नेह पनपता है और यहा तो उसका अनापन है। फिर उसने मिर से चादर उतार कर कहा—“तो मैं तुम्हें कुछ खगा थोड़े हा रहा हूँ, जो इतना पुरा मान गइँ। अब मैं कुछ भी न बोलूँगा।”

उसने बट कर सेल का डिपरी जवाह। देला जगो रो रही था। उसके मोड़े, गोल मुख पर चौखों की मूला हुई सुहरी सकारें चमक रही थीं, जो अब दासक क ऊँछे प्रकाश म साफ साफ पदी ना सकती थीं। उसने कहा—“जगो !”

वह गुमगुम।

“जगो !”

वह चुप रही।

जगो !”

अब का बार वह समझ गइ, बोली—“हूँ !”

बीन् का हृदय भर आया। उसके नेत्रों में वह सदा की भौंति हँसता खेजती था कर उमं मुझा गई कि बीन् ! मैं तुम्हारी क्याही हुई तो हूँ नहीं। मैंने तुम्हें प्यार किया था, यह सोच कर तुम मरा भूलों को मेरे दिख से लिखाव सकोगे और मेरी बलम्बा हुई मुझा को मुझमा कर कह सकोगे—जगो ! वह तुम्हें भूल गया है, तो क्या हुआ, मैं तो नहीं भूला हूँ !

जगमो की बेवसी ने बीन् के हृदय में एक हलचल मचा दी। वह सोचने लगा, क्यों वह उसके बारे में ऐसा सोचता है ? नहीं, यह सब झूठ है, उसकी जगमो अपवित्र नहीं है। मगर वह ? अब वह कौन रहा था। उसी ने तो उस दिन मेले से आ कर कहा था—मैं उसे चाहती थी। किन्तु आज किन्हीं अनवृक्षी शक्तियों का खोया हुआ रूप उसे दूर पर रंगरेलियों करते हुये दिखाई दिया। वह जगमो को प्यार करता था। उसने अपनी बहुत-सी छोटी-छोटी बातें उसके जीवन में छिपा दी थीं, जो अब दरबस अन्दर से निकल कर बाहर बिखर पड़ना चाहती थीं। जगमो के आँसुओं ने बीन् के चारों ओर वह दीवार रखी कर दी थी, जिसे वह तोड़ना चाहे तो तोड़ नहीं सकता था। बीन् दयालवाइँ की द्वियिया ले कर उसके पाम पहुँचा। फिर उसके माथे पर हाथ रख कर बोला—“जगमो ! जि रोती हो ! कैसी पागल की-सी सनक है !”

वह चुप न हुई। अब बीन् को अपनी गलती पर पूरा विरवास हो गया। उसके विचारों की बौई हुई छाया में जगमो के प्रति सहानुभूति की सिसकने चक्र का चुर्की थी। उसे स्वयं अपने से पृथा होने लगी। सा पुरप की दासी है, वह उसके इशारों पर चलना चाहती है। उसके चरित्र पर दोष लगा कर क्या उसने उसे बदनाम करने का कोशिश नहीं की ? वह दौत पास कर सोच रहा था, काश, उसने ऐसी बात न कहा होती लेकिन उसे क्या पता था कि वह इतनी जल्दा उससे तुरा मान जायगी किन्तु वह ? इस विचार ने न जाने क्यों उसके आँठ पड़का दिये नहीं। वह इतना भोला नहीं है।

तुरत के जले हुए दापक का लाल लाल रोशना में वह उसकी ब्यथा को समझ चुका था। बीन् उसक भार को हलका करना चाहता था। वह उसकी गम्भीर मुद्रा को भुला कर उसे बता देना चाहता था कि तुम रोती क्यों हो जगमो ? खो, मैं माफ़ी माँगने बेता हूँ, सच।

अभा उसके अजसाये हुये अधरों पर हलकी लकीर सी मुस्कान में जगमो के उस मूड का चित्र था, जिसे अपना आँसुओं में भरने के लिये कभी बीन् छुटपटा उठा था। उसकी आँसुओं की मस्ता बीन् को अब भी हिला रहा थी।

स्वामी को इस प्रकार से चुप देख कर जगमो और भी पूर-पूर कर रोना चाहती थी। पर अकले नहीं, वह चाह रही थी कि कोई उसमे पूले और वह उसके थाने अपने को खोल कर हलका कर ले। उसकी इच्छा थी कि उसका स्वामी उसके रोने पर खुद दो आँसु निकाल दे, और तब वह उसे समझाये कि बीन् ! तुम्हीं बताओ बिना उसके कैसे रह सकती हूँ ? उसक गोल गोल गालों पर दूर तक यह

को वह पंख कर बाज़ा—“सुख हो जाया ! अब कमा भी उसा पाव न करूँगा !”

रात को जगो न अपने स्वामी के समार में समार मग कर रहना चाहा । पर नान क्यों वह उसके पास तक न पहुँच सका । मानो जगो का सारा भार उसे योंप सा गया हो । उस अधिपारे में उसके स्वामी ने कई बार अनुभव किया कि वह बाघ पर टरा-सा कौप उठता था ।

उस दिन शाम को जगो रली बना रहा था कि उसने चाहर अपने स्वामी के साथ किया इन्दि का चाशान-यो मुगा । उस परिधिा स्वर को सुन कर वह कौप उठा । उसने दरवाने का भो म देखा, तो उसका भ्रम मिग गया । मिट्टी की दिशा के धुँउरे प्रकाश में वह उस पहचान गई कि वह घटा था । य मीक पहा । उसका हृदय कुद कइना चाहता था—शायद उनका येरणा पर नाराज हा कर वह उस दौटना भा चाहता हा । चाप उमे विर अपने मी-बाय का याद आई, मानो घमा वह उहें घर छोड कर आई हा हो । बरंग वा वह भयापक भूकग भा उगमा शौलें में घूम गया, जिममें पह क्रिया क हाथों पर चड कर धरनाक पहुँची था । इतना हा नही, उने अपने मकान क साथ-साथ अपनी सारा ममता पृथग में समायी हुई मालूम पही था ।

जगो ने दूर तक उमे अधिपारे में जान देखा । अब वह अपने को विडहून भूल गई थी । रात को उसका स्वामी अब ग्याना घाने आया, तो देखा तरकारी में नमक न था । राटियों पर घुँ के काळे दागा लगे थे, और वे जली हुई थीं । अपने धारे से कहा—‘जगो ! आज मूने खाना बिगाड डाला है ?’

जगो जल उठी—उसने तेज हाकर उत्तर दिया—“तो मैं क्या करूँ । मुझसे तो पसी हा बनता हूँ । जा चाह तो या खो !”

बान् की समझ में कुछ भी न आया । वह चुपाचप रोगी खाने लगगा । उस रात को वह उसके पास अपना हृदय न बिछा पाई । कोने में रजाई मोड वह न जाने क्या क्या सोचती रहा । उस याद आया कि बाज़ार के उस मोड पर अपनी छोटी-सी पान का दुकान पर येते समय वह कितनी सुख थी । वह दुकान ही उसका दुनिया थी । आते जाने मुयकों का परिहास ही उसकी चषकता से गजता रहा । वह कितना तरह अपने प्राइकों का मनोरजन हो रही थी । कमा कोई पान मँगता, तो वह शकती से उसे मोरडप्रलेक की डिबिया दे जाती, तो कभी कितना से पीने खेना ही भूल जाता ।

उसकी उस अवदइ मुस्कान में पाना की लहर का तरह दूर हटी हुई वेदना की कीक थी । वह इवस ही अपने मावों को द्वाप बैग रहता । मानो उसे कितो चीज का अभाव अखरता हो, माना अब वह दिना उसका पुनि के अधिक समय तक और

न रह सकेगी। कोई उससे कुछ कहता नहीं था। कोई उसे पढ़ न पाता था। उसमें एक जादू था कि ब्राह्मक अपने को भूल जाता था। वह बहुधा गुलाबी धोती पहनती थी, और साय ही हाथ पोंव में मेंहदा लगाना भी न भूलती थी। उसकी दूकान के ब्राह्मक अधिकतर पढ़े लिखे लोग ही थे। और भी थे, पर वह उनके हाथ पान न बेचती थी। वे सबैरे आते थे और उम समय उसका पिता दूकान पर बैठा करता था।

मारा का मारा चित्र उस गणधर में उसे दिखाई पड़ रहा था। उसने रजाई से मुँह निकाला। देखा, चीन् मी रहा था। वह फिर सोचने लगी कि वह किस तरह घात घात में लोगों को छेड़ा करती थी। किन्ती से कहती—“बाबू पान ही खा लो। सोचते होगे, कि पैसा यों ही न ले ले। न बाबू, मैं ऐसी बेशर्म थोड़े ही हूँ। मत देना पैसा और क्या।” तो दूसरे से चुन्की लेकर बोलती—“थाप तो अब पास हो गये हैं। मुझे सब मालूम है। मिठाई न खिजाओगे बाबू ?”

वह अपने खास-खास ब्राह्मकों की लिस्ट सा रखती थी और पूरा पूरा पता भी। दुकान की इलकी पांजी रोशनी में उमका गारा चिटा-सा मुँह साकू-साकू मझक उठता था, जिस पर पान की गहरी सुर्खी बैंग मुस्कराया करती था।

सहसा उसे याद आया कि उन दिनों एक ठाकुर का छोकरा उसका दुकान पर पाग लेन आने लगा था। वह स्वस्थ, सुढाल और सुन्दर भी था। पहले ही दिन उसने पान ले कर एक अठगो उसके हाथ पर रख दी था। वह कॉप गई थी। उमका वश चलता, तो वह उसे वापस कर देती, पर वह न माना था। सिफ मुस्कराता हुआ एक ओर चला गया था। वह कुछ समझना चाहती थी। मानो अब वह अज्ञेयपन न सह सकेगी। अपनी आँखों का शोखी में उसने उस युवक को एक विचित्र मोहना खाते हुये अनुभव किया था।

अन्य ब्राह्मकों के बीच वह भी खड़ा-खड़ा सिगरेट पिया करता। फिर सब के चले जाने के बाद वह चुन्के से खिसक कर उसके पास आता। उस समय उमकी भी आँखें उससे उलझ जातीं। न जाने क्यों वह उसे देख कर घबरा जाती थी। उसका हृदय धक धक करने लगता।

एक दिन वह सदा की भाँति दुकान पर बैठी थी। ब्राह्मक बढ़ रहे थे ! सहसा वह आया, वही धुँधराले ढाल और पम्प के जूते ! सब के चले जाने के बाद, उसने धीरे से कहा—“जगो, मैं अकेला हूँ—बिजकुल अकेला।”

“तो मैं क्या करूँ, बाबू ?”

“जगो, यह लुका छिपी क्या तक ? चला मेरे यहाँ ! मैं तुम्हें रानी बनाऊँगा !”

वह कुछ न बोली था।

उस क्षण में भाउसने उमका मुद्रकान को समझा था। मागे वह बतकी स्मृति पर मुद्र खगा रही था।

फिर उसने धार स कहा था—“बौनू ! यह मुझम न होगा !”

वह बात बहुत दृष्ट बाला—“जगो, अरु मैं तुम्हारे बिना न रह सकूँगा !”

उसने जपक कर जगो का हाथ पकड़ लिया था। वह घबरा कर उठ बैठी थी। उमी गदगद में उसके हाथ की छुट्टियों में घूट गई थी। ताक पर की इन की दिवरी ज्ञार म भन्-भक् करने लगी ! उसने वही पर उस कई बार जोर म धूम किया था—“जगो तुम मेरा शको !”

जगो शरमा गई था। फिर उसने अरु स अपने को संभाल कर कहा था—“बौनू तुम !”

महमा उसके हाथ पर उसने कीट पात्र रूप दी थी। एक पक्ष टाप का नर था। जगो घबरा गई थी। वह अपने को संभाल कर रचना चाहता थी। इमन मिठा क कैंडे से पाना ल कर अपने गांजे गांजों को रूख रगड़ रगड़ कर धेया। मागे वह उसके अन्दर का मारा इन्द्रायें पानी म धाकर बहा देना चाहती थी। वही ठक कि उनसे रूल निकलने लगा। अरु उसने समझा था कि वह पवित्र हो गई था।

फिर एक दिन वह ज्ञोनों का भूकम्प आया। वह दुकान पर थी। धारो भी मझान गिर रहे थे। वह घबराई-सी धर पहुँची थी। देगा, तो सारा मझान गिर चुका था। वह अवेला दरवाजे पर लड़ी थी।

दिसी ने भी उम समझ न पाया था, किरा न भा उसे पद न पाया था। व कुछ उलझा सा अन्दर घुस गई थी। वस, फिर उसे आगे कुछ याद नहीं आया था। वही गुला, तो एक मुद्र जवान उम जेजा से लिये वा रहा था। उसने कहा कर कहा था—“पाना !”

वहा याण स्वर था। उत्तर मिला—“जगो, अमी नहीं !”

जगो ! मेरा नाम ! उसके हृदय में एक दृढ़-सा उठ खड़ा हुआ अपना उथल व्यस्त सद्गा की हलकी सुमारा में भा उसने उस पहचान लिया था। वहा पानवाता युवक ! उसने अपना शॉलें मीच कर उमके हृदय में घुस जाना था। फिर धार स बोली थी—“बौनू, तुम तुम !”

और वह उम घुप कर रहा था।

उस याद आया, फिर वह बिलजुल अरुदा हो गई थी। उन नराजे दिनों फिर से वह एक बार अपने को वहाँ सा लगी था। वह रोज उस वृष क साथ हलकानिक दता था। अस्पताल से आ कर वह उसी के धर रहने लगी थी। सव

मालूम हुआ कि वह किस प्रकार हूँटों के नीचे दब गई थी। और किस प्रकार उसने पहुँचकर उसे निकाला था। यह बात सुनते समय वह एक बार सोच गई था कि—
क्यों न वह उसके साथ ब्याह कर ले ? उसमें न आने कौन सा शक्ति थी, जो उसमें मिल जाने के लिये उसे विवश कर रही था। किसी अनात बचन में बँधी हुई वह उसकी ओर बराबर खिंच रही थी। वह उसके आगे अपने को हारी-सी पाती थी।

उस दिन वह कुछ शिथिल माया ! उसकी भारी आँखें देख कर वह चौंक उठी थी। उसने डरते-डरते पूछा था—“आज क्यों सुस्त हो ?”

पर वह कुछ भी न बोला था।

उस दिन उसने खाना न बनाया। लकड़ी जलता ही न थी। दियासलाई की कोदियों तीलियों फूँकने पर भा वह उसे जला न सकी थी। चूल्हें में पानी ढाल कर वह उसके पास पहुँची थी। टौन का दिविया के धुँधले प्रकाश में वह चुपचाप खेटा था। अन्त में उसने वही सुनाया, जो उसने बहुत पहले से ही साँच रखा था। वह एक सनक थी, पागलपन था। उसी कोक में वह कह गया था—“जगो, जगो ! मेरी रानी !”

इस उत्तर ने न जाने क्यों उसे हिला दिया। फिर दूसरे ही क्षण कमरे की प्रत्येक वस्तु ने उसे उसकी सुकुमार बाँहों में देखा था। कुछ सजग होते हुये उसने कहा था—“तो मैं कब मना करती हूँ ?”

उनके आँठ एक-दूसरे के आँठों में सट गये थे। आज उसे अपने जीवन की सारी छायायें याद आ रही थीं। वह अथ रो रही थी।

हाँ तो फिर वह एक दिन मेला गई थी। वहीं पर वह उससे पृथक हो कर खो गई थी। शाम आ गई, पर वह उसे न ढूँढ सका था। अतः में एक आदमी ने कहा—“तुम को कहाँ जाना है ?”

वह चुप रही।

“क्या तुम्हारा साथी खो गया है ?”

वह गुमगुम ।।

“आधिर यहाँ कब तक खड़ी रहोगी। लोग क्या समझेंगे ? चलो, मेरे साथ ।”

वह कुछ सोच रही थी। शायद वही जो यह चाह रहा था। सोचा, जाना तो है ही तो क्यों न चला जाय ? यहाँ कब तक खड़ी रहूँगी । साथ हो जाँ

पर उसने सारा हाल सुना दिया। उसकी बीबी

साथ

में उसने उसके मचलते हुए अनुरोधों को मान लिया, और अब वह उसी के साथ तो है।

राज शाम को वहीं तो उसके स्वामी के साथ आया था। उस रात ३२ जगो सिसकियाँ भरती रही। सुबह उठ कर अपने स्वामी के मुँह में उसने जा सुना तो उसका सारा धम जाता रहा। उसने कहा—“वह कह रहा था कि जगो पहले मेरा बीवी थी।”

यहो तो उसने रात में भा कहा था। इसी बात ने तो उसके दिख में वेदना का एक इमारत का खड़ा का थी। इसा बात ने तो उसकी आँसों में आँसुओं का प्रवाह का उपस्थित किया था। वह कुछ न बाली।

आकाश साफ था। पक्ष उड़ रहे थे, मानो वह मोच रही थी कि अब इस अपूर्ण याद को छे कर क्या करेगी।

उसी समय बीन् ने उसकी ठोड़ी हिला कर कहा—“क्या ? क्या नाराज़ हो ?”

और वह हँस दा। मानो यह भी उसका ‘अपूरा मजिन’ था।

आनन्दी

आज मन के पास बहुत सी भाभियाँ जमा हैं। ये भाभियाँ कहीं पर कुछ फीकी नहीं हैं। इनका अपना एक रोज़नामचा है। भारा पीड़ा वहाँ पर है, और मन में इनके प्रति खूब-खूब याद है। एक खाम सज़ीदगी के दाघरे में भाभियाँ न जाने क्यों देवरा की ला सोचने की आदी हो जाती हैं। तब नई नई बातों को दूसरों पर पैलाना वे खूब सीख जाते हैं। बँधी बँधाई गृहस्थी का उत्तरदायित्व निभा, मन भी बँगना उन्हें खूब आ जाता है। पास जाओ, तुमक कर पाछे हटेंगी। एक हाथ से दरवाज़ा पकड़, हँस, गिलखिला कर कहगी—“खूब ! किसी की याद आ रही है ?”

तब अपनी गहराइ मापना वे पसन्द नहीं करतीं। केवल छाया-सी बात बिलेर, पाछे छिपे रहने में भी खूब मावधान। बरतना उन्हें आ जाता है।

वैसे ये दिन भर मज़ाक जुगती रहता है। मन से खेल, आँखों आँखों में कह ये भाभियाँ जैसे बस, केवल मन बहुलाव के लिये हो आता है। और होली का दिन इनके मज़ाक का खास दिन होता है।

आनन्दी भा इनमें से एक है। पूरे सत्रह साल पार कर अठारहवें में आई है। अन्य भाभियों की भाँति आनन्दी भी खूब जानकार है। बातों के सिलसिले में भारी पीड़ा बिलेरना उसे खूब आता है। दिन भर सुहुल बनी पड़ेगी—कहाँ रह इतनी रात ? अपने प्रश्न का उत्तर ख़य पा फिर कुछ खोलेंगी नहीं।

आनन्दी पड़ोस के भाई साहब माते से भाभी लगता है। ये भाई साहब रेल में नौकर हैं। बेचारे ठीक आठ बने ड्यूटी पर जाते हैं। और रात को जब आनन्दी की आँखें रास्ता देखते देखते पथरा आता है, तब ये कहीं थापस आते हैं।

आनन्दी ने अपना कुछ छिपा कर इनसे नहीं रखा है। जब से घरवालों ने इल्दी से हाथ पाके लिये, आनन्दी ने कभी कहीं पर उनक साथ चलने में आनाकानी नहीं की है।

आनन्दी का यह रिश्ता अपना एक खास इतिहास रखता है। तब आनन्दी पड़ोस में नई नई आई थी। पीछे बहिन ने सुनाया था कि आनन्दी बहुत सुन्दर है। अपना इस बात के लिये मैं कोई खास कम्पौटी नहीं रखता, न मैं कुछ इसके लिये -माय्य हो जुटाता हूँ। एक दिन शाम को खिदकी स दो काली काली आँखें भर देगी

थीं। और थाग उन्हें आनन्द मान लेने में कहीं कोई हिचक नहीं है। आनन्द मव के निकट तब गहरी उतरा थी।

और आज आनन्द सुबह से ही घर पर है। कमा कमा यह आनन्द पड़ा सरक जगती है। तब जा स उलक, थोड़ी देर के लिये मैंने अपने को समझाया भर है। वहीं आनन्द का बैठा, हँस खिखा, देर तक मन घडलाया है। तब आनन्द ने हट्टा न रहते उसे भा मन में केवल अपने को सीया भर है कि आनन्द सामने आईं मरन युगते बोली—“आज तो थाफिस बन्द है ?”

‘क्यों ?’ कहा था मैंने।

‘होला नो है।’ बाबा थी आनन्द।

‘होला’ बात हलके गुनगुनाई गई था। कहीं पर कुछ गहराई न आई थी तब। सिद्धली होला में इस आनन्द की छोटी बहिन आई थी। वह अलदक नदका भी उन दिनों खूब मन देगता खगा थी। सुबह स ही घर था जाता। स्वप्नसा खिरा रहती। कानपुर की लड़कियों पर बातें करते करते रहना। आगे पढ़ाई खिखाई का जाल दिखता वह हँसता खिलखिलाता, कहता ‘जानाजा मैं तो आपके साथ शादा करूंगी।’ तब उसकी बात सोच लेने के बाद बड़ी हँसा आती थी। आज साचता हूँ, यदि सच ही शीला जिन्दगा में आता तो क्या होता। आनन्द ने एक दिन सुब सुनाया था कि शीला हैजे से मर गई।

‘शीला ? बोला था मैं।

सामने आनन्दी तब खूब जा मर पृष्ठ पृष्ठ राई थी। शीला मन से उलकती मगहती खगा थी तूष, तब शाबा को हलके समक लेने को जी चाहता था। होला के दिन आनन्दी ने उसे खूब सिलाया पढ़ाया था। शाम को पैठ पढ़िना जरा टहलने निकला तो पाया उसकी जेठे कटी थीं। पोथ पता खबा था कि यह शाबा की कार स्ताना थी।

पर आनन्दी खड़ी को खड़ी रहो। जैसे भीतर जाने की सामर्थ्य यह हारी है। एक बार मुझे देखा। बाहर भी खोलें गई होंगी तब। साधवना बरतती आनन्दी खलने को हुई। मैंने रास्ता रोक लिया। एक बार फिर आनन्दी की बड़ी बड़ी खोलें ऊपर उठीं। जाल जाल पाया था तब उन्हें मैंने। वे खोलें सुम्माती खगीं हट जाओ, दिनेश बाबू ! रास्ता छोड़ दो ! और क्या मुझे नहीं लगता कि मैं परवश हूँ। तुमने देवर का शिरता क्यों जोड़ा ? जोड़ा क्यों ? जान लो कि मैं !

तब उसका मुँह जम्मा से गीला होता भर मँवा था मैंने। आनन्दी पेसी खड़ा है। कि जब चाहे भाग कर आदर घुस जाय। फिर भी पंथर की मूर्ति की भाँति

अचल है वह । सादी उसकी सिर से उतर कर नीचे आ गई है । और उसे याद नहीं कि उसको एक पतला लट वालों को उड़ कर मुँह पर फैल गई है ।

मैं समझाते हुये बोला—“आनन्दा ! हमारे आफिस में लुट्टी नहीं हुआ करती । वहाँ के इन्सान व लिये होती कोई पास महसूस भी नहीं रखता । दिन भर खटर खटर, खट खट मशीनों के पास कपड़ों की लम्बी-लम्बी साड़ियों की हलकी-गहरी किनारियों पर मन डरा रहता है । वहाँ एक भारी शैथिल्य तब फैलता लगता है । जैसे मनुष्य केवल अकेला हा आया है । तब अकेले ही उसे भेजना पड़ेगा सब कुछ ।”

आनन्दी कुछ न बोली । न बोलना था उसे । जैसे मेरा बात समझने कायक समय वह प्यो बैठी थी । समझने का चेष्टा भी न की उसने । हृष्ट उभर देत बोली—“आज तो रकना ही पड़ेगा । मेरा भी तो कुछ अधिकार है ।” कहते-कहते आनन्दा डरा रुकी । अपना गलती जैसे अब पकड़ी हो उसने ।

अधिकार की बात तब मन से समझ लेने में वहाँ दिक्कत न पड़ी थी । आनन्दी ने कय अधिकार जमाया है । किसी पर ! पिछले दिनों उसकी बात से इतने में म्यामध्य द्वारा हैं । साथ ही आगे एक स्वप्न-सी जग से आनन्दी को जाना है, उसकी बात लिये जला हैं । जब एक बार मन विछा, आनन्दी को आँखों में साथ साथ कर लेने का वचन दिया था तब से आज तक कहीं रुका नहीं । कहा मैंने—‘आनन्दी मामी !’

पर आनन्दी कुछ बोली न था ।

आँखें उसकी भर आई थीं । यह मैंने भाँपा था । और आश्चर्य में पाया मैं कि एक बार आनन्दी ज़िद पर गुली, बोला यो—“वाह ! कोई प्ये ही रहता है होली के दिन ।”

फिर दोपहर को तब आनन्दी रंग से सरापोर होने पर भी कहीं चुप रह सका था । आनन्दी ज़रूर आँखों को तब वहा सुन्दर खगा थी । बरपटा पार कर बाहर आई, मुझे देख कुछ झिझकी, फिर बोली यह—“देवर जो !”

आगे आनन्दी कुछ न कह सकी थी । आनन्दी के सामने अपने को असहाय भर पाया था मैंने । मस्तक मुझा अद्दा से आनन्दी बहुत निकट आ गई थी तब । उस कोमल गारी के गुदगुदे स्पर्श को याद कर लेने में आज अधिक कुछ दिक्कत नहीं पड़ती ।

दो दिन बाद मैं
‘त्रिय दिनेश !

बोला थाया । पिछले दिनों बहिन ने लिखा था—

तुम्हारे चले जान के बाद तुम्हारे पक्षम के भाई साहब ने उस दिन तुम्हें मर
बढ़ा, होना मर घरे के अंदर बहुत पुरा मरवा बढ़ा था। तब जानम्दा ने जो मर
कृप। एक अक्षय दिवस का मरने का मर कर रोई भर थी। तुम सब एक अक्षय
अक्षयना।

तुम्हारी—प्रभा।

पुनरप—एक बिट्टा जानम्दा को भी साथ ही भज रही हैं। पर का का
काजना अक्षय।

धीरे जानम्दा ने जिया था—

‘तुम्हें पता करना। मर बढ़ा मर में नहीं उतरता। कपड़ उतरना म मर एक
सरग भर पाम मर रह जाता है। अक्षय था, अक्षय का तुम्हें मर है। रोह-रोह
अक्षय में उल तुम्हारा पत्नी अक्षय को मर बढ़ता था। अक्षय अक्षय के मर
पाद कर राना अक्षय है। तुम्हारे भाई साहब के अक्षय में क्या कहें? यह पूरे तुम्हें है।
मर मर-मर बाल पर अक्षय है। अक्षय है, मर मर-मर हो जाऊंगा। तब तुम्हें
अक्षय तो मर सब अक्षय जाऊंगा। मर,

तुम्हारा—

जानम्दा।

अक्षय होखी है। जानम्दा को पाद मर से हा था रहा है। धीरे अक्षय मर
तो एकदम निकट है। अक्षय है यह दो पत्र के अक्षय हट जाये। पर अक्षय मर
अक्षय पहिने सामने ही अक्षय-मर अक्षय है धीरे अक्षय मर—मर-मर। मर।

एकाकी याद

उस रात को चमेली जब दूत पर गई, तो उसने देखा ओसारा खाली पड़ा था। उसकी भली भली याद आई। जैसे वह हंस खेल कर उसे चुम्मा रहा है कि ओ चमेली, मैं पराया हूँ। तुम्हें देग कर आँखों में कर लेता हूँ। जी नहीं भरता है। तुमसे छुल मिल भी नहीं सकता हूँ। और तुम तो परिचित मूर्ति हो। तुम से कुछ छिपा नहीं पाता हूँ, फिर भी तो निकटत्व की छाया सी मुझे बाँध रही है। आँखें दूर पर उलझ गईं, धड़ा सा बड़ का वृक्ष उस सुनेपन में लहरा उठा। जैसे वह भी परदेशी के इटाए खले जाने पर कुछ कहना चाहता हो। जल की दूर तक फैला हुआ जहरों में उसने उसे खोजना चाहा। पास के खँदहर में उसने उसके पाने की चेष्टा की। ऊपर देखा, काला अभावस्या की रात। नीचे देखा, ओसारा भायें भायें कर रहा था।

अधकार फैल रहा था। उसके जी में आया कि एक बार वह नीचे उतर कर परदेशी का पता लगाये और बड़ के नाचे की तिल तिल ज़मीन छान ढाँचे।

उसने कई। रोज़ तक उसे राज के पास वाली पत्थर की सीढ़ी पर एक दर्री बिछा कर सोते हुये पड़ा था। वह बहुत रात तक गर्मी के कारण पखा ऋद्धा करता, और फिर अपनी उलझी हुई भूलों को सुलझाते हुये कुछ धीरे से गुनगुना कर सो जाता। रात के उस सघोटे में गीत का ध्वनि चारों ओर फैल जाती। परदेशी उसे श्वासों में छिपाने का प्रयत्न करता। आकाश में बादल घिर आते। हवा के झोंके उँहें उड़ा उड़ा कर एक दूसरी ही दुनिया में ले जाते, तब परदेशी अपनी दर्री समेट, सीढ़ी पर स उठ कर बड़ के वृक्ष के नाच आ जाता। मानों उससे उदासी स भरे हुये गीतों का वहाँ प्रयोग हो। जैसे वह अब उसे किसी की खोजी से धोना भर चाहता हो।

चमेली दूत पर लड़ी थी। उसकी अभिलाषायें नीचे ओसारे में बहर काट रही थी। बड़ी-बड़ी आँखों में परदेशी को समझन के लिये उस थँधरे में गई थी। वह उससे समाप पट्टे बना चाहती था, पर न जाने क्यों दिनों के सोलना चाहती थी कि बाद

बाते वह थाता था सभी बातों ही बातों में वह कुछ जोर की कर लेता चाहता था। जैसे मन का परतों में वह उतर कर सुझाना चाहता हो कि चमेला ज़रा यों ही रहे हो गईं। वैसा तो था पाया करता हूँ। और मेरा कौन भरोसा!

चमेली कुछ भिन्नक गईं! उसके सामने एक बार परदेशी की सरल हँसा में छिपी हुई भावनाएँ घूम गईं। उसका भरा भरा भला चेहरा पतले पतले शोंड और वह। चमेला सोचने लगा, वह तो पथिक है चखता ही रहेगा। जैसे वहाँ तक आया है वैसा ही वहाँ से भी चखता चनेगा। कितना सरल है वह! उस दिन जब उसने उसे पहले पहल देखा था, तो वह बच के मोचे रोटी टोंक रहा था। दहलत हुये कौयले का साल-साल राशनी में उसने उत समझने का चेष्टा की थी। उसका भरा भरा शोंडों न उसे रुझाया था। परदेशी का रहस्यमयी शोंडों ने उसके दिव में एक गुरगुदा की दुनिया बसा दी थी। बकिा ठाक वह चमो तक आया क्यों नहीं? वह कुछ भर-सी गईं। उसके विचारों में किमो ने अपनी मुस्कान भर दी थी। उसके हृदय की ठठता हुई मरती को कोई घर कर बैठ गया था।

चमेली को सुकुमार शास्त्रा ने अपनी दो बार हसरतभरी पँतुरियों इधर उधर घेना दा थी, और व पृथ्वी पर खोने से पहले अपने कार्पनिक देवता से मित्र-भे कर कुछ कह सुन जाना चाहती थी। वह बरबस बहुत आगे बढ़ गई थी। अपना सारी यादों को बहुत पाँधे ढोब कर अपनी अधूरी स्मृतियों को सुला कर। उत रात को उसे बड़ी दूर तक नींद न थई। उसकी थलसाईं हुई शोंडों में कोई मुस्करा कर कह रहा था कि चमेली! देवो में परदेशी हूँ। मुझे भला उरा नहीं छू गया। मैंने भी प्यार करना सीखा है। मेरे दिव में भी एक भोगा हुआ कोना है, उसमें भी 'कुड़' है। और ओ चमेली, मैं कहीं तक अपने को सिरजूँ। आखिर मैं भी आदमी हूँ, यस! वह उससे छू गईं। खगा, परदेशी है।

X

X

X

चमेली अब काफी बड़ी है। उसकी खिली खिली शोंडों से भी उसका यह ब्यापन भाँपा जा सकता है। वरुमें अब चखता नहीं है, और भी है उसमें 'कुड़'। पर वह उसे किसी को बताता नहीं, दिखाती नहीं। जैसे वह उसे छिपा कर दिव में रख खेना चाहती हो। जैसे वह उसे खोज कर एक अनबूके पाप में रो धो कर समा जाने को सोच जाता हो। पर फिर भा वह उसे सेंझार नहीं पानो है। अपनी रीता इच्छाओं में अपनी हुई जल की लहर की भाँति स्वच्छ अनबूके को वह खाल खाल समेने पर भी सिरज नहीं पातो।

दिन काम-काम में चला जाता।

दंदा के आदेश और खाना पकाने में वह उलझी उलझी भी अपने को मूल नहीं पाता है। लगता है, जैसे यह सब कुछ बहुत पुराना हो चला है। और उसने १६ साल तक यही तो किया है। वह अपने में किमा की गीली-गीली सहानुभूति देखना चाहता है। उसकी 'चाह' है कि कोई उससे गीली लकड़ियों के न जलने पर भीगी आँखों को पोंछ कर कहे कि चमेली रो, मत बना खाना। क्या जान थोड़े ही देना है, बाजार स पूरी ला दूँगा। और वह मरी मरी सी उठ कर चूहे में पानी डाल दे।

दिन बातता, रात आती।

फिर वही काम।

और उससे टिपट कर भी तो उस सुख नहीं। अकेली है, सारा काम कर चुकने पर भा तो स्वतन्त्र नहीं है। उसके पड़ोस में चहल पहल है। पर वह वहाँ नहीं जा सकता है। माँ ने कहा था—'चमेली, किशोर भला नहीं है। तू यहाँ मत जाया कर।' घर की महरी ने भी धीरे से बड़बड़ा कहा था—“चमेली को मत जाने दिया करो। अब काफी सयाना है ही गई।”

इन्हीं सारी बातों से उसका जीवन बना है। उसमें चैन नहीं, एक प्यास है, सुख नहीं, पर भूख है। वह इसे पूरा समझती है। शाम को वह रोज़ छत पर जाती है। धूप टल गई, सन्नाटा चढ़ गया। यह तो अन्धकार भी चढ़ आया। पर यह उठी नहीं। खाना उसे बनाना नहीं था। दीदा ने खाने से इनकार कर दिया था। कमरे के अन्दर का खोली हुई धोती भी ज़रदी में वैसा ही पड़ा था।

आँगन में मैना टेंगी हाँ रह गई।

और जब अथ काला शिवाव माटा बीठा समझ कर तेल का कटोरा तुड़का गया, तब कहीं छत की मुँहरे पर बैठी, उत्सुक आँवें, किनारे क बड़ के पेड़ पर लगाये टिकी चमेला उठी। उस रात को सीढ़ियों पर से पैर फिसलते फिसलते बचा। रास्ते में वह दावार से टकरा गई और वह अन्दर से बाहर तक काँप गई।

आज चमेली ने बड़ी मुश्किल से धिराता जला पाया। माचिस की तोलियों कुछ बुझ जाती थीं। और सभी उसने देखा कि उसका धोता का धोर गीला था।

बहुत-बहुत-सी बातों ने रुझाया था।

उस रात उसे नींद न आई। रात उलझी-उलझी सी चला गई। दूसरे सुबह उसने देखा, तो वहाँ परदेशा कुछ भरा-भरा-सा अपनी सारी हुरदार्थों को समेटे हुये चुपचाप गच के पासवाली साढ़ा पर लेग है, उसके भी मन है, कुछ सोची हुई बातें भी शापद हों, जिसमें वह कल्पना की खोरा से बँधा बँधा भी मुक्त है। उस 'एक' में

यह सोचिए रहती है। यह तो विरय का गुण था। है न ! और यह ? अपने सुनावन बना है । समझा है । पर उसकी दुःखदाह नहीं मर का खीर सा तो नहीं है, जो बहुत जल्दा ही अपना मीठा रस छोड़ कर मित्र मित्रा मित्र गइ । इस खेदे तो कहीं वह भूला सा नहीं हा रटा है ।

उभों दुई मुष्कान का रधाने हुय उसका पहला मरणा रहता है—“आज निपका बना है क्या कोई शवार या शरार् है आपके यहाँ ?”

और यहा तो सजात है, जिन सुन कर यह शराना नही, भरती नही, यकता भा नहीं । निमका जशाब मन के जिये उसका मुँह ब र हो जाता है । जिनका सुन कर यह चाहता है कि कोई उससे कुछ न पूछे । उसका उपा दुई मॉग ने यह बौर उठता है । यह मॉग कपु खेन के बाइ दे भी जाती है । पर उसका मन जेदे कइ उठता हो तुम तो परदेगी हो दुःखारे जिय में क्या करे । जेमे यह सुपचार उसे देहा पर सदा द्युय कर कुछ यदकाना चाहता हा । काई कह जात है कि जो परदशा येग जाभा न इतना जल्दा काह का । मैं अकला हूँ । कभी-कभी घूम जाया करे, अरुहा । यह सुनावन क्या ऐम हो रहेगा और मैं क्या अकेली ही रहूँगी, निजतु ल ऐत हा ?

उसका शामा में गगना का भरोसा है । उमहा हार काजी राग यन कर उसके मन के शॉगन में उतर चुका है कि जा वह करेगा यही होगा ।

और यह अपने को विरय कर खीट नहीं जाता है । यह यहाँ सदा है । आज उसे उसका हृदयभों का निगलने में सुख मिल रह है । उसे भी कुछ हो गया है । यह भी अमेला का पढ़ने का चिन्ता में है । उसे सुख है कि उसका मन आज किसी सोई बात को खे कर उसरु सामने अपने शॉयल का धोर दग मुस्करा रहा है; यह सिर का पछा सँभाजे उसकी सारी शार्तो का उत्तर देने की शान में है । उसका एक दूसरा भा मन है, जो धन पर उसे हँसते-जेशत देख कर मचल उठता है जो उसका सारा शार्तो को लिख लेना मर चाहता है और जिसका भारीपन उसकी सरल बल अना के सामने अपना सिर भुका खेता है । उस याद है कि अमी उसा दिन तो उसका हाथ अचार खेते हुये दिख गया था । उस दिन यह कड़ी मुश्किल से अपने को संत सका था । और यह उसका मन हा तो है, जो आज कुछ सनक गया है ।

यह मन किसी का रचना नहीं करता है । यह उसे डकराव कैसे ? यह उस सुख में किम सुखी रह सकेगा ?

योकी पर तर यह सुप रहा फिर बोला—‘अमेला ! यह भागा-भूया कथ तक ! मैं भी अकेला हूँ । किसी की भोधी भाजी द्याया को पहचानना चाहता हूँ । उसी में

मिल कर मैं सुधा हो सकूँगा। मैं कुछ मूल जाऊँगा, मेरी सारी प्यास उसी में रम जायगी। तुम्हारा भी कोई नहीं है। इस अलसाये हुये भारीपन को ले कर क्या करोगा ? तुम रह भी नहीं सकोगे। और अपनी ओर तो देखो, क्या सदा 'एक' म कसी रहोगा, बैठा रहोगा। यह दिन भा चले जायँगे।

“मकान छाड़ने को मैं नहीं कहता। लेकिन तुम यहाँ रहोगी कैसे ? तुम मेरे घर चलना। रोग बनाना, खन स रहना। उत्र के तास माल ऐसे धुरे-धुरे बात जाने पर आज यह जो चाहता है कि किसा के दूद में अपना खून जम जाने दूँ। पत्थर की भौंति जम जाने दूँ। उसमें फिर से मिल कर घुल जाऊँ।” वह फिर बोला—“अपना सारी उभरी चमेली, तुम्हारा आँखों का तेज़ी के सामने बिछा दूँ और इस तरह गलता-गलता गल जाऊँ। और मुझे यह मिले कि मैं परदेशी था। पराये के पीछे जलता चलता जल गया। आज न जाने क्या मुझे हो गया है। उसमें तुम्हारी ही ऊँच तो नहीं भरा है। मैं दिल के अँधेरे में तुमसे कुछ कह-सुन कर हलका भर होना चाहता हूँ, कई दिनों की दवा हुई बातें तुम स चुपके स कह डालने का चित्त होता है। चमेली, चमेला, ओ चमेली ! तुम्ह मेरी कसम है, तुम मुझे नहीं समझ सकी हो। ‘हाँ’ भर, कह दो। सच, मेरे मन में तुम्हारे लिये कोई बिगाड़ नहीं है।”

और चमेली न सोचा।

उस उसके उत्तर में न जाने क्या हो गया था उसने धीरे से अपना मिर घुमा लिया था। जैसे किसी गहरा खुशा के बाक को उसका सिर अब अधिक देर तक न उठा सकेगा। आखिर उसने सारा सामान बाँधा बूँधा पर ठीक समय पर वह न थाया।

दिन निकला। ऊपर चढ़ा और दीवारों के उस पार भी जा पहुँचा। चारपाइ पर दरी में लिपटी हुई चीजें धरी थीं। अन्दर का सामान उलझा पुलझा पड़ा था।

पर वह न थाया !

चमेली ने उसका प्रतीचा में आँखें बिछा दीं। मन सोज दिया। रात आ गई, पर वह थाया नहीं। उस रात को चमेला नाद भर सोई नहीं। दीदी के पूछने पर भी वह रोती ही रही।

द्वार पर आ कर 'बाबा' शाम की भील मँग रहा था। वह भागी-भागी बाहर आई, देखा, तो परदेशी भोजी लिये खड़ा था।

वह काँप गई। फिर बोला—“बाबा ! मेरी मुराद ?”

“लेकिन, मैं तो परदेशी हूँ परदेशी, चमेली।”

“परदेशी ! तुम बड़े अनजान हो ! सारा सामान ठीक कर लिया है। अब

“लेकिन मैं कह पा रहा हूँ कि मैं परदेशी हूँ।”

“हाँ। तुम परदेशी हो यह ठाक ही है। लेकिन तुम जा रह हो। आज रात ही कुछ आराम कर लो। और मैं क्या पेसी हो रहूँगा ?”

“पर, चमेली ! मुझे बहुत दूर जाना है। मैं शय तुम्हारी छाया सँभाल नहीं सकूँगा। सच, मुझे धावा न दो। मैं तुम्हारा बोझ न उठा सकूँगा। वह भार है और मैं कमजोर हूँ।

‘तो क्या तुमने मुझसे नहीं कहा था कि घर चलना।’

“हाँ कहा था पर अभी उसका समय नहीं आया है चमेली। अक्सर आने पर मैं खुद या जाऊँगा। चमेली, चमेली ! मुझ परमा करना !”

‘तो क्या ?’

‘एक चौथे साल।’

परदेशी चला गया। चमेली मूर्ति सी पड़ी दस्तर्ती रही। जैसे वह कुछ समय गई हो—नारोग्य का विमुग्धा का एक सिरा-सा।

शाम का उसी पोखरे का गच पर कमा कभी चमकी जा कर सोचने लगती है कि क्या परदेशी है पर उसका भूरी-भूरी आँखें हँसता हुआ चेहरा और क्या गच ही वह फिर आयेगा। उसका हृदय धूम जाता है। जब रात का झंझरा आता और फिजा कौप उठता है, तब वह चुपके से उठ कर उसी गच के नीचे या जाता है। यही उसका नियम है। सारी लाजवाहियों को सँभारने चमेली समय के निगलने की चंटा करती है। बहुधा वह अपने को भी भारी लगता है। मानो उसके प्राणों में प्रलय हो रहा हो। बहुत दिनों तक वह ऐसा ही रही। सुखी रही, या दुखी, कौन जान ?

वह फिर आया या नहीं ? यह नहीं कहा जा सकता। आज भी उसके दिवस वह घुमी हुई है ‘एकाका याद’।

त्याग-पत्र

अथ प्रमिळा सोचती है कि प्रशान्त में उसका मा ज़रूर है। एक साप्ताहिक दायरे में घिरी हुई वह प्रशान्त युवक को कैसे सहे। अपनी गुर्खा वह बनाये और बिगाड़े भी, पर प्रशांत को उसमें वह क्यों घसीटे। कभी कभी मन में वह ऊब भी जाती है। प्रशान्त का एक विरा हुआ अपना मन है। वह मन किसी को छूटा नहीं है, और उलझनों ही उलझनों में पास से रुठ भर जाता है। वह इसे अपनी गलता मान तनिक ठहर जाना चाहती है। पर रुक नहीं पाती। रुक कर अपने उत्तरदायित्व को कैसे निभा सहेगी।

प्रमिळा उसकी भाभा है। वह नारीत्व में दिग्भी प्रमिळा इस पुरुष प्रशान्त के जी से मठ चुकी है। बातों-बातों में उस खगा है कि वह पराई नहीं रह गई है। याफिस स छुट, बाहूमिकिज पर बैठ जब प्रशान्त शाम को घर चल दता है, तब दिन भर की मरी कपी प्रमिळा शाम की शोट में आ, सब काम छोड़, ज़रा मुँह हाथ धो, अपने को पा, दरवाजे पर टिक जाती है। और प्रशान्त को गहराई, उसका भार कि वह उसे कहीं तक देखे याँसे भरती नहीं। एक रेखा सी, मूक हँसी में सीमिन प्रशान्त वह उससे अलग होन की बात पर रुके कैये ?

भाभा को मूक नम्रता में खो उसने कहा था—“प्रमिळा, मैं तुम में अपनाख पाता हूँ। देखो, मुझ अपना माराङ्गगी में मत खेना, अच्छा !”

आर प्रमिळा ने चाहा कि उस खड़े हुये युवक से कहे कि प्रशान्त, मेरा पा मेरे पास नहीं है। जो है भी वह तुम्हारा है, और जो तुम्हारा नहीं है, वह है भी नहीं, सब ! फिर ऊपरी मन से तुम्हें अलग क्या करूँ। स्वामी का तो एक नाम भर है और अथ जैसे उसने काई बात पकड़ ला हो। धीरे-से योकी थी—“प्रशान्त !”

और प्रशांत ने जाते हुये सुना प्रमिळा चुका रही है। उस सुन को वह कहीं छिपा कर रख ले। जो कुछ है, वह प्रमिळा है, और प्रमिळा से बाहर जो है, वह उसका है भी नहीं। विचारों में कुछ बढ़ा तो प्रमिळा थाती सी खगी। गुब्बारी जरा की सारा में छिपटा हुए। प्रमिळा को वह क्या कह दे ! और प्रमिळा ने जैसे कुछ कहा ही नहीं, और न सुना ही कि घाय की तरतारा पर हाथ रुका। प्रमिळा

अपने साथ 'स' खाइ है। और उसने हाथ का समझार हात उगाने हुई माप में दखा कि प्रमिळा भाभा का हँसी में वह टप गया है। उस गई भाभा की पूँछ को वह माप कैम ? चाय व- गिय; पर भाभी को क्यों कण छोणे उस कट का वह सना भा क्या दे। जो सगा उसन दा है, वह बलका है महीं, और सना से हीम वह उस क्या माने ? उमे भीप प्रमिळा ने माका स मुँह निकाल जारा भिमक, म्ठ, हँस का कहा—“तुम्हारी बात मुझे खगती है। माय हो मैन जागा है कि भाभा का दरका निभागा एक जरूरत है।”

धीरे प्रशान्त से वह चाय नहीं पी गई। प्रमिळा कुछ और चाये बनी था अर सभा जैसे उस समाप पा, चाय का प्याला उठा, कुछ भापुक हो उसने प्रमिळा के आँठों से लगा दिया। उसकी भाभी प्रमिळा कुछ डाँ नहीं, किम्की भी नहीं। हाँ, जारा अपनी गत्ता से ऊब धोका-सा हँस, धीरे से उसे गत्रे के नीचे मुँह बिचका कर उतार भर गई।

धीरे उसने फिर सुना—‘प्रशान्त !’ वह उमका क्या उत्तर दे। उम छुटे से नाम का वह बका-सा सुवक जगब मा क्या द ? नाम उसका छोटा जस्त है, पर उस छुटे से नाम में भरान अधिक है।

प्रशान्त सोचना है—‘प्रमिळा में केवल भाभीपन हा नहीं है, बकि उससे जाने भा कुछ है।’ जैसे उसका मन कहना चाहता हो कि प्रमिळा, मैं क्या उत्तर हूँ। नाम मेरा जरूर है, पर मैं नाम का स्या नहीं हूँ। तुम्हारा दुनिया मं क्या पूसा ही होता है। प्रशान्त खोल क्या ? वह पेबस है। और क्या प्रमिळा नारा इस खोटेपन को पर नहीं पाती है। भाभी सामने खबा थी। और अपनी हार माने क्यों ?

प्रमिळा सोचता रहा। उसने उसे पुकारा; प्रशान्त कुछ रका भी। फिर भी बेबेक कुछ किम्की क्यों ? यह उका-को उसे सुहाती नहीं है। वह बुलाये और प्रशान्त रुके नहीं। यह क्या प्रमिळा इस अवन में ले सकेगा ? उस छोट स कास में प्रशान्त को खगा था, माना वह भाभी इसे दूर म कर सारा सुल बाँट जिन्दगी में निभ सकगी। बात बदलने के विचार से वह धोखो था—“कल जारा भाकिस से जलद आना।”

जलद आना, यह जैसे प्रशान्त से शहर की बात है। काम यह करे, उसमें हूँ भी। फिर प्रमिळा को वह अपना दुख क्यों दे ? आन्सिर का मन कठिन है। और अर प्रशान्त को बड़ हुये खगा, जैसे उसका भार पूरा नहीं उतरा है। मन की सिसक को वह छिपाये क्यों, जैसे वह सुवक सुज कर इस सुन्दर नारी में मिल जाना चाहता

हो। और प्रमिला ने आगे कहा था—“तुम्हारी दावत है, अच्छा ! चार बजे शाम को, देखो, चूकना मत।”

दावत की बात वह सुने, प्रमिला उसे पान लाये और वह क्यों उसे पृथक पृथक रखे। वह भाभी की व्यस्तता में कुछ सुधार लाना चाहता है। कुछ रक्षा तो मन कहने सा लगा कि भाभी, इतनी जल्दी क्यों, और तुम्हें यह नहीं लगा कि मैं तुम्हारा हूँ। कभी आ कर चाय के सहार तुम्हें रु खेता पर तुम ! फिर भी प्रशान्त पहले ही आ पहुँचा था। देखा, तो प्रमिला कुछ सुधरी सा सामने मेज़ पर मुकी मिजी।

प्रमिला का अपना काम है। एक बँधा हुआ नियम उसे लग गया है। और यह प्रमिला नारी उसे साथ, टोर्नों के बडल खोल आज यवा से अधिक भर गई है। खजा करना उसे आता नहीं, और प्रशान्त के आगे वह क्षिपे क्यों ? सामने प्रशान्त को देख वह चौकी थी और एक हलका साक नमस्ते में व्यावहारिक द्वार जीत का प्ररन हटा हुआ उसे मिला था कि वह युक्त उसके और भी पास आता जा रहा है।

और यदि जिन्दगी यहाँ पर एक एक चाय का घूँट बन समाप्त हो सकती। जैसे उसे गले से उतार भाप में भीग कर ही सारे कर्तव्य को निभाना होता है, जैसे उसका सम्बन्ध केवल बाहर हा का रहा हो। प्रशान्त अब केवल गैर जिम्मेदार आदमी ही रह गया है। यह है, और उससे भी दूर निमला।

निमला ? जिन्दगी कुछ रकती सा लगती है। आज से चार साल पहले प्रमिला ने इसी का नाम लिया था। याद कुछ उभर उभर आती है।

आफिस से आ, अपना सूट उतार, ज़रा सुना तब वह अपने कमरे में बैठा था, तो भाभी दूर से हँस, अपने में मचल, पास आई। आँखों में आँसु टिकी रह गई। एक कुत्सी सींच प्रमिला बोली—“आज आफिस से कैसे जल्दी आ गये ? निर्मला आई थी, और तुमने तो उसे देखा ही होगा। बड़ी भली लड़की है !”

और परसों निर्मला अपना माँ के साथ घर आई था। तब उसने यह जाना था कि वह उसे अच्छी ज़रूर लगी थी। कल आफिस में उसकी याद आई, तो जी देखने देखने को करने लगा। ज़रनल और लेजर के बड़े बड़े रजिस्ट्रों पर आँसु रकी ज़रा और रकी, तो पदा 'निमला निमला !' वह घबरा गया। घड़ा ने अपनी टन-टन में सुनाया 'निमला ! निर्मला !' और अब प्रशान्त जैसे अधिक रुक न सकगा। उठा और वाइसिबिल पकड़ कर घर पहुँचा। जहाँ पर निर्मला बैठी था, उसे प्यान स देखा—जैसे यह भोली निमला अपना रेखा चित्र छोड़ गई हो।

आज प्रशान्त को बहुत ऊप है। नी में एक अभाव का स्थान बन गया है, जिसमें निर्मला नाम की एक नारी अपना अस्तित्व छोड़ कुछ सुम्ना गई है। उसने

चाहा कि भाभी से कुछ बोल, पर यानों में अटक न सका। सुपचाप कुरसा पर बैठ, अलवार खोल उसमें ली गया। दूर से भाभा की छाया बढ़ी सफेद मालाबी नाली और वह निमला का मलिन हँसा में रू, हँस, खेल कर कुछ ऊपर उठा। तभी प्रशान्त की लगा, 'नैव भाभा उस समझ न पायेगी, और वह एक मूढ़ व्यवस्था में ऐसा ही लगा रहगा। इतने में निमला हाथ में गेंदरा का तरनरा ले पास आई। उस मज पर जमाने याला— 'कुछ ग्राह्यगा ?'

यात कुछ उलझी सी लगी। प्रशान्त अग से बाहर रहा। कुछ बोला नहीं। सोचा— 'प्रमिला भा कैसी भला है और वह निर्मला। बहुत सोच विचार कर बाहरी है। शायद वह, पर इस प्रमिला का जी क्या दुःखे। पर निमला नहीं, प्रमिला प्रमिला वह जी से दृष्ट करे पर प्रमिला का कैसे हगय ? जैसे गेंदरियों के टुकड़ों में उसने सब कुछ पा लिया है। उग कर जब मैं भर ली।

पास बैठा कुछ प्रमिला न सोचा गेंदरियों वह बनाने, उसे सजाये भी पर वह प्रशांत उहें न ला 'नैव में क्यों भर ? गेंदरियों बनाने बनाते अँगुली जहाँ का गये, वह कुछ दुःख जा दुःख और उससे तिलनिमला कर वह बोला— 'सामने स्थाने में कुछ घुसा है ?'

प्रशांत उस वैसे समझाये। मन के बुझाओं में उसे रस ले, वह वह भी चाहता है। जैसे मन कहने-भा लगा कि प्रमिला सामने की यात मुझ लगी नहीं है, जा दूर रहा है, इससे तुम्हें बाहर पा चुप हूँ। फिर निमला का यात सामने आई। साक-साक सच सच। पर दया, एक गेंदरी निकाल सुँह में रख वह सुप रहा।

आज वह सोचना है, निमला उसके घर आई, बेटी भा और कुछ दे भी गई। उसका देन वह रंगे कहाँ ? पर प्रशांत ने उस देना नहीं। वह साथ वह कैसे सहे। प्रमिला की आँखों में पड़ा जैसे उसने उसे समझ लिया हो।

एक श्रुतिया पहला सामने आइ। यदि निमला जीवन में निम सकती। कुछ सोच उसने धारे से कहा था— 'हाँ, देना तो है।

और प्रमिला कट गई।

यात थड़ाई नहीं। वह लाज में दिपा रही। जरा थोमार हुआ तो निमला फिर आई। आरामपुरसी चींच बैठी, तो प्रमिला ने प्रशान्त की बामारी का हाल सुनाया। उसका एक रूप आगे आया। प्रशांत कहने-सा लगा— 'निमला निमला। और निमला ने दूर देखा प्रशान्त जेठा है; सुपचाप वेवसा में गदा। और अब निमला अपने को क्या करे ? धीरे से प्रमिला की ले प्रशान्त के कमरे में आई।

इस सुबक प्रशान्त में आज निमला का जा जम गया है। जो उसका है, पर

जमाव पर उसका लगाव नहीं है। पास छोटे हुये युवक प्रशान्त की भावनाओं का कुछ दूर साक्षात्सा बना, फिर मित्र भी। जैसे प्रमिला की ओट में वह उसे छु चुका हो।

श्रीर प्रशान्त उसे पा कुछ चोंका, दीवार पर टँगे हुये चित्र पर आँखें टिकीं। निमला आता सी लगी। हमारी गृहस्था मा एक चित्र का भौंति है। उसने सोचा, हम बोजते हैं, हमते भा हैं, और फिर अपना अस्तित्व खा कर जब की जहर की भौंति कुछ दूर-दूर आ मिल, रह जाते हैं। श्रीर सोचा निर्मला ने दूर का सहारा पकड़ा है। और प्रमिला नहीं, निमला दोनों में वह किससे मनबुझाव करे? निर्मला यदा भोली हे, सिफं सुप खड़ी रहता है। आज भी वैसा है कि प्रमिला ने दवाई का समय जान हाथ बढ़ाया, उसे निर्मला को दे बोली—“तुम दवाई दो मैं आनी हूँ”

श्रीर निमला का सारा उरसाह टूट गया। कभी उसे पाभाभी की ओट ले प्रशान्त ने कहा था—“जिन्दगी में बदलना पुण्य है और एक-सा रहना पाप।” कह कुछ नहीं सकी। दवाई का फैसला खुद कर, समाप पहुँची, ज़रा सलुचा, लता, झुक, हँस कर दवाई का गिलास मुँह से सटाया।

एक ठाँव नारी की कोमलता, निमला की कोमलता क्या वह इसी भौंति रहेगा। सामने निमला का साकार चित्र देख वह यहक गया। झुकाव का सहारा ले एक सपाँ हुई उलझन में उसकी आँख उस पर टिकी रह गई। दवा वह पिये, पर निर्मला को कए रोग क्यों जँचे। दूर पर निमला कहती-सी लगी—प्रशान्त, तुम यहाँ रहना, रहना और ऊचना मत। नारी के भाय एक शाही में आ, अपन आपका गला देना अच्छा। यही मेरा बात है, अपने से बाहर की पाओगे। कि नारी कला की एक चीज़ है, मुझसे मिलान मत करना। दु ख-पीड़ा, घेदना में साथ भाय ही बैठ सकेगी। श्रीर प्रमिला ? कि प्रशान्त ने ज़रा सत्ता से हट दवा गले के नाचे उतार दी। उसके घूँट से शब्द उठा—‘निर्मला, निर्मला !’

दूसरे दिन वह कुछ स्वस्थ हो आया। फिर निमला दूर की न रही। उस पाप आती नारी को वह पढ़ता गया। उसमें कोई तुरी भावना न देख उसने सोचा कि निर्मला भली ही नहीं है, बल्कि उसमें भा आगे वर बढ़ गई है। ज़रा कुछ और सजग हुआ तो वह प्रमिला भाभी के साथ फिर मिली। वह मित्री और मीना भी।

श्रीर मीना ?

मीना उसकी पढ़ा भली लगती है। जैसे वह अच्छी बिल्ली सब कुछ समझ कर भी सुप रहना चाहती है। जानवर वह है, पर उसकी समझ के आगे प्रशान्त न

गया है। वह प्रशांत पुष्पक का गुरु समझती है। अपनी बेबोज भागा में जैसे कहना चाहता हो कि मैं बेबोज हूँ, इसा न मद बुद्ध मत जगाना ? निर्मला बोली थी हूँ, सुहारा भा हूँ ' और प्रशांत मानो यह सब समझ लेता है, मानो उस बुद्धा अपना दुखार वह बोट और ? कि वह दोनों सा विद्या में भागा घरी भर दीप कर प्रशान्त के पैरों पर दुम रख लौट जाता है।

जरा निमला और बोली, तो माना न दिखाचार में था, तब पीर चाटे और प्रशान्त जैसे सब बुद्ध या लिखा हो। धार स हाथ पीर पुष्पार कर उस टठाया। उस दिन उसे न जान कहीं एक पर या मन माना में मिला। जरा और टठाया, तो प्रमिता ने सुनाया कि निमला आह है, माथ में शकसपियर की दुबेक्य भाहट' भी समझने लाई है।

प्रशांत ने माना का चार हलत हुय कहा—“जा, अपनी निर्मला बोली के पास जायगा।”

और जैसे माना ने रखाऊँ कर पूछना चाहा कि जाऊँ, सब, यह तुम कहते हो। कि सामने स निर्मला को आनी दल वह एक कुररु। लीच बोला—‘आप जैसे भूख पकी हपर ?’

और निर्मला जैसे भर गइ हो, पुपचाप रही। फिर पनाइ की बातें जमीं, और निर्मला जैसे यह सब सुचना कहीं चाहता थी। प्रशांत सीना को थपथपते हुये कहता गया—“शकसपियर अमेजा-साहित्य में बड़ा भारा कलाकार हो चुका है। उसकी कला ने विश्व को परखा है और और।’

जम चला तो सीना को आवाज दी पर वह न उठा। पुपचाप प्रशान्त का मोह में बैठा रही। हाँ, देखा जरूर जाता हुई निर्मला का और प्रशान्त ने कहना चालू रखा—‘शकसपियर ने नारा हृदय परखा था। उस अपने में जा लीला था। इसी से उसके ‘नाहरदुबेल’ में एक मूक युग की नारी का, कोमल नारी की चाहता मरा है। ‘नारी हृदय’ वह रुका कि निमला ने फिर पुकारा—‘माना !’

और प्रशांत ने सीना का जोर हर चिपकाते हुये कहा—‘किसी को प्यार करना सरल है, पर भूलना मुश्किल। शकसपियर ने एक बार कहा था—पुष्प चाहता है कि वह एक बड़ा हिस्सा अपनी जिन्दगा का दे पर सफल हो नहीं पाता है। जोर इसे जान बुझा पाजत है, जरा भूल बदना को हटा बिरली को भी कि बात छट गइ।

“मीना, माना !” आवाज़ फिर आई ।

श्रीर श्रव जैसे माना रुक न सकेगी । ‘ग्याऊँ’ कर गर्दन उठाई, उसे रोक वह कहता रहा— ‘अपनी प्रिय वस्तु से अपने को इतना एक अपर्रो की बात है । हम कुछ रखते हैं, पर उसके चले जाने पर दुःख ही करते हैं !”

कि दूर पर निर्मला हँसा ज़रा सन्नग । एक छाया-सा वह पास आ बोली—
“अच्छा, अब चली हूँ, माफ़ करना ।”

निर्मला पूछता है, वह रोके क्यों । जाना उसे है ही । वह जायगी भी । फिर वह क्यों उसम कुछ कहे । जैसे वह कहना चाहती हो कि सच, जाऊँ तुम कहते हो जाऊँ । और मोना वह विवशता जान, बोल पड़ी ‘ग्याऊँ ।’ वह जैसे कहने लगी—
अभी बौटो, तुम जाओ क्यों, निमला दादा मैं भी तो चलूँगी प्रशान्त ने सोचा, क्या वह निमला नारी सच जाना चाहता है । फिर मुझसे पूछने क्यों आई है ।

आज आफिस में काम करते करते प्रशान्त को लगा, निर्मला की शादी ठीक हो गई है । वह शादी में बंध कर रहना नहीं चाहती है और श्रव तो वह धीमार है पीला-पीला मुँह । वह दूर पर कहती सी लगी प्रशान्त, प्रशान्त !

वह कॉप उठा ।

घर पहुँचा तो प्रमिला ने सुनाया— “दूर के रिश्ते से निमला मेरी यद्दिन लगती है इमीजिये मैं ने पूछा था । बड़ी इच्छा था कि तुम्हें उसे सँप सकूँ पर परसा उसका शादी ठीक हो चुकी है ।”

‘शादी ठीक हो चुकी है ।’ प्रशान्त रुका । दूर पर निर्मला की हँसी सुन वह चौंका । वह कहता-सी लगा ‘प्रशान्त, मैं छोटी हूँ, और तुम बड़े । इतने बड़े कि सोच कर भय लगता है । समाज में भी, उग्र में भा तुम यहीं रहना । बिदा !’

कोई एक महाना हुआ, तब निमला की चिट्ठी आई, लिखा था—

‘प्रिय प्रशान्त,

ज़िन्दगी एक रहस्य है । डरता हूँ कि क्या लिखूँ और क्या न लिखूँ । तुम्हें न पा इस ज़िन्दगी का अमला रूँ और भा चमक उठा है । मुझे थाइसिव ही गया है । डाक्टरों ने बताया है कि किसी सिनेगेरियम में ले जाओ । इस महीने में यदि आ सको तो चले आना । तुम्हें देखने को जी कर रहा है, अच्छा, शेष कृपा ।

तुम्हारा—

साफ आकाश में लिंबी हुई चोंनी को देख प्रशांत का मन एक अज्ञात पाई से भोग जाता है कि वह चोंदी हंस बिखर कर निमजा का रूप ले लेती है। वह कहती सा लगता, प्रशान्त मेरी भावनायें मत यूँको। मैं पराई हूँ और यह परावापन का बदन मुझे तुम तक नहीं घाने देता है। कि वह छाया रूरी निमजा दूँ है, उस छू, पुच्छ कर हूँ प्रमिला में रो उसम समा भर जाता है।

और अब प्रशांत कैस रुक।

प्रमिला, नहीं निर्मला निमजा ! जैसे वह चोंदी कह उठती हो—निमजा, ओ निर्मला ! और वह चारपाई से भाभी प्रमिला में पहुँच, उसे पहचान देख सिसक सिसक कर रो देता है।

जीवन का रहस्य

'पसत !' छाया अपने में गुनगुनाई । कुछ भार कहीं हलका लगा । जैसे अज्ञान मात्र वह कर रही हो मृगी प्रेरणाहा में दूषो अर्धे विखरती, सरसता उदेल अने में न्यो यही रहती । उलझी उलझा, काला काजा सोई भर । अंदर एव धुँ रजा चित्र । जरा साफ़ शायदे से लगा, वह चित्र हैसता मुस्कराता लगता कहता—'छाया ! मैं हूँ मैं हूँ ।' और बाहर कुछ अलग अलग एक धाँसा बड़ा-सा हलका । दुनिया की समझदारी में हलका पड़ता । पीढ़ा यों न्यो कहीं चुप ही होता । दूर-दूर एक अम । जिंदगा फाका कहीं था हों, उचाट उचाट जी में था कुछ कमी अभाव म गेख । यहीं गुवार मनुष्य के बनाये क्रानून कोट के पैसले की तरह धीरे धीरे फैलते, जहर उदेल आगे आते, समान के दायरे में सिखाते—

चुप, चुप चुप !

बात अपने में न आती । कुछ कहीं पर छ अलग ही हो रह जाती, दूर दूर, कदता कहती ।

मूठ, मूठ, मूठ !

मूठ ! अब छाया चौंकी । अपने को पकड़ चाहा कि जूब समझ ले । उत्तर दायित्व की पाद आई । उठा, किताब ले स्वामी के निकट पहुँचा । समय काटने लायक थी वह किताब । मन बहलाव वह किये जा रही थी कहीं ? और चारपाई पर खेदे स्वामी ने देखा—एक बुझी उलझा हलकी नारी । लाल साड़ी सपेद सफेद बिन्दियों से लगी । हाथों में हरी चूदियों—बीच में लाल और आगे फिर हरा, गोल गोल किताब के ऊपर सधी, रुकी । सप, सप । खूब बुझाती लगी । खिली खिली कि छाया ने गढ़ी गढ़ा कहा—“मन नहीं लगता ।”

मन ?

स्वामी चौंका । दिमाग भर गया । यहाँ रज की निपट खर-खर पाई उसने । बाहर दूर-दूर हरे खेन । उनसे लगे गाँव । वह लाल धोती पहिने, जरा गन्दी लड़की सिर पर पीतल की फलसी, और सामने टेढ़ी मेढ़ी, साफ़-साफ़ भाँसी पर आगे बढ़ती फिर—

खर-बखर ।

हर रोगों के उम पार वह धूमता चलती । गाढ़ा भागे बढ़ती । धन्दर बिन्दे की दावार में छाट-छाट छुद । उड़ी में कापदे स खगाई चिट्ठियाँ, रजिद्री, शमा, स्र सभ । सुभात, एक टचाट । उमा में लगा एक हथला । उचा और हथले के बाच एक ईसा परशना व पास पाम । बलकों जावन में धोपी क्यूटी । वहाँ छाया हलका खाता । बाव पकड़ कहा—“घर जाभागा ?”

छाया शिथिल हा गुल गई । चाहा, उगु कह । मैं धो उमी में रह जाय । वह सुर रहा, फिर बोला—“और थाप ?”

अपनाव का बात उलझी । फिर फिर में किमी को समझानी वह भागे आई है । और मन में काला काका वह बनकरी कहाँ है । एक पाथर-सी जमा वह धनी पर है । जिन्दगी का मखीन उका अपन को परख, पसार जा चारों ओर उका, तो फिर हा ता यह है । रूब समझा युका एक अभाव चला । त्रिमल का प्रैसवा खेत । तन दिन पहले । वह नीले सूट की मफद धारियाँ मन से खेचती एक उलझा अत्रहना न था, जा समझ जाता । उनके बीच बसन्त । उसकी पीड़ा, घाय दुल और क्यू कुछ खोग उसे बटा कर घर छ आये थे । अचना कर्त्तव्य निमा यह डीक लैची थी । जब सत्राग आया, तो वह बोला था—“छाया, जरा पटा गळी कर दो, बहा दद है ।”

और छाया ने पटी खोली, टाळी कर एक गॉठ दे बोला—“बस !”

बसन्त कुछ बोला न था ।

सामन सपरता में पसरा छाया । नाका साही रूब सजा । बालों में हरा फाता । कमरे में टाक एक पहाड़ा खदकी सी लगता । रूब बल बोला—“जरा बोलख दे दो, बहा गहरा थाप ह ।”

मन में सत्राग, वहाँ बन्दूकों का धायँ धायँ । दूर-दूर रत पर बिपे मुपड फिर धायँ !

व आगे बढ़ते जाल जाल साकों में और—
धायँ ! धायँ !!

पास में धुधौ उदता—मफद मफेद । ऊँचे उठ कहता—
धोखा धोखा धोखा !

पहाड़ा खदक क पास वह दि दुरताना डुकड़ी का कमा डर था । विलुखी घटना के दो दिन बाद आये । एक घाय बना दिल में पसारे । यह घाय अब दद देता कपक कसक । हलके बात उठती—“सोका खोका !”

वही रात गये कहीं शुद्धसुहाहट खेती थी। फिर—

‘धायँ’ एक प्रायर ।

‘धायँ, धायँ !’ दो प्रायर ।

‘धायँ, धायँ, धायँ तान प्रायर ।

खदक चारों ओर ने विरी पाई उसने । सब समझ गया वह । उन्नमता ठीक से पकड़ा । सब-सब सामने आया ठीक-ठीक ।

घटानों में छिपी टुकड़ी ज़िन्दगी में हारी ।

दस दम, साथ ।

आगे, बीस-बास ।

पाँचे, पाँच पाँच ।

सब शान्त में सोये । केवल मा बुझाव करने कराहना-मात्र थी वहाँ । आगे दूर दूर खेतों में वे खो गये ।

“सोत्री !”

किमी ने कहा था ।

वह भोजा सरल मुख, घुटने तक झाक, बालों में एक नीला रुमाल, ठीक-ठीक लगी । अन्दर गुदगुदी । वह बाहर रही ।

“ज़रा कस कर बाँध दो !”

थपने कस्तूरी को निभा सोत्री बढ़ा थी । पास उसके था, हलके घाय छू बोली थी—“तुम यू० पी० का है ?”

“और तुम ?”

बात को न पकड़ सोत्री हँस दी थी । फिर बोली—“मैं ?”

सोत्री की हँसी ज़रा अन्दर आई । वहीं पसरी रही । करघट ले सोचा, वह सोत्री भली भली । हँसता हँसती । और वह ज़िन्दा क्यों रहा । थपने को धापा दे, गोली लगी, एक घाय बना, झूठ बढ़ा, पार चली—सन्-सन् सन् ।

और अब वह इस नई सोत्री में क्यों खलक रहा है । विचारों में सोत्रा उलझी ; ज़रा ऊपर धर र र ।

पाम में हवाई जहाज़ ।

सोत्री चिन्ताई—‘भागो, भागो !’

छतरे से परिचित थी वह ।

पाम में धूँक । रत बंठा एक बम गिरा । मोक़ा चीखी, उसने झौंलें बन्द छा
ली । दूर पर घोषी थाका रेत उब रही था । मोक़ी का पता न था ।

छाया का भ्रम छाया । झुलता हम गारा में वह मोक़ी को क्यों टोल रहा है ।
उदक चरसर न घर जाने का इजाज़त दे दी थी । खज़ने में एक दिन पकड़े गुना था—
'एक हिन्दुस्तानी कमाण्डर की जान बचाते समय मोक़ी ने अपनी जान दे दी ।'

वह नारी महती खगा ।

दूर बन्दूकों के पाम उसे देख वह भ्रम में चौंका—"सोनी, सोनी !"

छाया पास आई । मोतल दे वहीं रहा । पाछी—"यका गहरा धाय है ?"

'गहरा !' बसत न बात दुहराई ।

साक्षात् न भा गो कहा था—'धाय गहरा है । टोक से रगना ।' बात न समझ हँस
दिया । छाया मन के निकट चला । पाम पास कुछ मुझानी । वहीं रहा पोंका बँटला ।
सोनी से मित्रान कर सुखमा । बात उठी, यह छाया और वह सोनी नाम का
नया बुला फ़ासला, कमरे का सरख तारी छाया में फ़ैलता खगी । उसा में रहा, ज़रा
बन्द । और बाहर एक काबा परदा भ्रम का ।

किर कई दिन वह उसके घर पर रहा था । उसके मित्र की यहिन होने के नाते
वह निभ गई झून । कुछ स्वस्थ हुआ, तो एक दिन गाने का ठहरा ।

हरी हरा पास, पास फ़िल फूल, बहता नाका, छाया अपनी सखियों के साथ या
ख सजी, खिजा खिजा ।

घाम के उतर पार बसत !

दूर दूर ।

सॉक हो चुका थी । चौंदना में स्वयं सा छाया, भागतो सखियों । सब सब ।
बुझतो-सी खगा—"खूब ! खूब !"

और मद पर बसन्त । दखा, छाया है । क्यों के-से लापरवाही से बपड़े । सारी
ज़रा उलझा । दारों से बधा । कहने खगी—'बसत, बसत !'

जब गाना प्रथम हुआ तब और भी रात हो गई थी । खेल-खेल में सखियाँ ब्यामे
रही । मेद के पास छाया को देख वह बोला—'छाया ?'

छाया चौंकी । बसत का देख हँसी थी । झूब निहार बोला—'हत्तनी रात
आप यहाँ, चलो, घर चलो ।'

छाया आगे रही वहीं। वसन्त को चाते न देख वह ठिठकी ? फिर वहीं से बड़ा—“आइये चलिये, न !”

वसन्त बैठा रहा, चुप-चुप, गुम-सुम। पास के नाले से खेजता, लहरें उठाता। सोचता, जिन्दगी कितनी थोड़ी है। उसमें सोचनी, बन्दूक की गोली, धाय, छाया और लहरों से उसका हाथ छू गया। ज़रा ठठा लगा, ऊपर भिगोता। जैसे यह सब बातें श्रवणा लिये हों उसमें। बोला—‘मन नहीं करता छाया !’

छाया मुन्नाती लगी—कुछ कहीं पर।

वापस आ पास से बोला था—‘गसा भी क्या मैं कहती हूँ खलो।’

फिर हँस, आगे बढ़ उसका हाथ पकड़ घास में भरी पगडंडी पर आई।

छाया साथ साथ। एक हाथ का हलका सहारा। सहारा अपना हटा सा लगा। चलते वह बोला था—“छाया, मुझे याद न करना, जिन्दगी बन्दूक के सहारे आगे बढ़ता है। उसी में रह चलता नहीं। टिकी टिकी मनुष्यों की लड़ाई में खून बहा, एक धारें, बड़ा सा दमन यही मने जाना है। पत्र कभी न लिखना, अड़्डा।”

छाया चुप रही थी।

यह सोच रही थी—मनुष्य कितना स्वार्थी है। अपनी बुद्धि के सहारे दूसरे का पक्ष ले मनुष्य का गून बहाना उससे लिये कितना सरल है। बोली थी—‘वसन्त, यह अपने बस की बात नहीं है।’

एक दिन पहले के वे काले काले सध सधे दो अक्षर मेज़ की घनावट से मिले मिले सफेद कागज़ पर, सामने थाये। कहनी रही—“आप यह न लिखा करें, मेरा नाम और आप।” फिर हँस बोली—‘जी मैं थाया था—उसे मिटा हूँ परतु।’

और वसन्त का ‘मूढ’ विगड़ा। एक श्रवणा यहाँ पाइ उसने, निरा सूनापन। मन में डलका।

बात पकड़ बोला—“इतना भी अधिकार आपको बख़रता है।”

आगे चुप ही रहा।

घर आ गया था। छाया नमस्ते कर आगे रही।

अगली सुबह उसे जाना था। छाया न कर सकी विदा। मन से दूर-दूर चला, यहाँ रुका नहीं।

एक महीने पहले छाया स्वामी के घर में आई थी। हँसी बाँट, वसन्त में खो-हलकी हो वहीं रह गई थी।

मन बहज ने-मात्र का साधन था, वह भी गया ।

कहता-कहता—“सच, सच, सच !”

ध्याया कुद न बोलो । धरना मन समे, पुस्तक ख खली कइती कइती—“बिना
आपके मैं कैसे रहूँगी ।”

सभी पास में वसंत की छात्र—“बाब !” उलका नीला सूट मर स खोजा—
सुजाता—‘ध्याया, भो ध्याया !’

दूर पर वादख बड़ रहे थ ।

कमरे के बाघ कुरसा पर बैठ बड़ साप रही थी वसन्त यदि स्वामी हो सल्ला
और स्वामी ।

बड़ी डलमन थी ।

तुम हँसी क्यों ?

जिन्दगी में जो एक गुवार लिये धुँचाँ सा है उसमें कमला का मन जमा है। वह ऊपर ऊपर ही उभे हटा, पैना, जैसे कुछ हलका होना चाहती है। जैसे उस धुँपे का कढ़वाहट को वह थम सह न सकेगी। धुँचाँ है पर वह बिखरा नहीं है। सिर्फ पास था, खुशी को ममेठ, उसके दिल में समाया है, और उसमें अपनी बात पा, वह कमला नारी चौंक पड़ती है।

शौगम की दाजान की बातें ऊपर छतवाली खिड़की का शोर निहार कर वह सकुचाये क्यों ? एक गुवार कुहरा लिये आया, जो चुपके से सुका गया कि कमला, यदा जिन्दगी है, मन का योम भी यही। और देखो, इसे सँभाल कर खूब करना। वह कुछ ही करे, फिर इस मन का मन न जाने क्यों भोग जाता है।

शौर प्रभात की हँसी उसे अचढ़ी लगती है, अब अचढ़ी लगती है, और उसका मन है कि प्रभात सदा उसी का रहे। वह सोचती है मन की पीड़ा, वेदना, दुःख निराशा दे क्या उसे वह अपना न सकेगी ? जो दुःख है, वह प्रभात का है नहीं, और जो सुख है, वह उसका है। उसमें प्रभात के न आने की भी बात है। प्रभात जरा समझना अधिक है, कुछ भायुक भी है। फिर वह क्या प्रभात से अपना रास्ता अलग अलग ही बनाये जायेगी। मन को उलझन से हटाया, तो वह सूना हो जाता है, और फिर सारी बातों को आगे कर वह सूनापन जैसे प्रभात के ढाले पायजामे और काले कोट में उसे ढँड कर पुकारता हो—प्रभात ! यो प्रभात !!

प्रभात अनायास ही उसके सामने था खड़ा होता है। चुप चुप, बेबोज, अलग अलग, कुछ सकुचाया सा। और तब कमला चाहती है कि वह कुछ कहे—कहे ज़रूर। चाहे वह बोलना उसके लिये हो, या उसकी गृहस्थी के लिये।

पर प्रभात बोलता नहीं है।

कमला को लगता है कि यह प्रभात भी कैसा सूखा जीव है। हथर उधर से था, जरा बाहर बाहर ही चुपचाप दरवाजा पकड़ कर खड़ा हो जाता है, जैसे वह सदा ही रहेगा, और मेरी भागनायें बूझता नहीं है। बूझे भा तो, खोला सा धन कर टाल, ऊपर-ऊपर का जवाब दे, कोट के फाउण्टेन पेन से खेळता रहता है। कहता है

कि शादा एक जिम्मेदारी है, मनुष्य के राजन के लिये नारी का निर्माण नहीं हुआ है। आगे बात सम्भारता से याचा जाना है।

यह वैज्ञानिक उत्तर उसके अिय काफ़ा नहीं रहता है। यह क्या सुने और क्या नहीं, यह स्वयं उसका समझ में आता हुआ है। फिर भी उसे दम कुछ हैवती हैसता-मी यह दिपा छिरी लक्ष्मी से गन्न क्या नहीं पाता है? जो सम्भारता का धान नसने ताला है, यह टाक है। शादा एक जिम्मेदारी है, जीम यह इमम महमत है और शय हमका मन उसका जिम्मेदारी का बॉट्ट हॉम-स्वत कर जिन्दगी का टारने को हो आता है।

दूर-दूर का विवाहिक गति में आ, उसे सक्कल म निभा उसने पाया है कि यह प्रभात के बहुत समीप से समाव आता जा रहा है। और उसे समीप पा, यह मन हा मन में कह लेती प्रभात, देखो अधिक बात शक नहीं है। जिम्मेदारी तो है, यह हमारा भा है। उस अकल टगाय उदाय जब तुम शक जाया तब मरे कन्धी पर हम दना। म आग यगा, या चाइता है कि इस जिम्मेदारी पर अपना सारा भार रक है, और तभी जीम प्रभात कुछ मस्त सा गुम गुम हॉस चुप हो जाता है। याद प्रम नहीं होता है।

प्रभात को प्रतीत होता है कि कुछ-कुछ यह बदल रहा है, जीम उस परिवर्तन में एक कोमल गारा का उदास याचना का ठुकराने हॉग रही है और वह रहा है कि तुम्हीं पुरुष हो, ऐसे पुरुष पर कान निरवास करे। कमला के गिल हय सुख का देव उसे भ्रम हो जाता है जीम कि वह भा हमी भॉति नारी रही होगी, और तब जीम वह पूव नारा खिल खिल, खिलखिलता-सा उसके सामने आ, हॉस एक और चला जाता है, और कहती है कि मेरे साथ रहना। अरुदा, मुक भूजना मत। कभा उसने मय हा तो कहा था कि मैं तुम्हारे साथ जिन्दगी बॉट्टूंगा। और पाऊंगा कि यह बचन मरा हा नहीं तुम्हारा भा है।

उस समय पान लगात लगाते उसका मन उछाट रहा था।

नहीं नहीं, नहीं!

वह क्या करे?

कमला को क्यों धोखा है। और क्या उसे नहीं मालूम है कि प्रभात कितना दुखा है। एक बात याद मन से लगाय फिर करता है।

और फिर कमला को घर के किसी काम में जुग पा उसे शान्ति की याद आ जाता है। थकी थकी वह सामने आ जाती। चुप चुप। कभा वह उसके घर चला गया था। शान्ति वर के रिश्ते का तो थी, पर सुधा के साथ उसे पा लगता जैसे वह

उसकी हा हो। फिर वह क्यों उसके लिये टिका रहा था! चला, तो शान्ति
दपनाव विधेरा, रोहँ लूथ स्थि कर; जैसे रोना हा उसे घाता हो; धीरे कहना
चाहती हो कि वह रोना तुम्हारे बिना बन्द नहीं होना। और प्रभात उठी दिन वहाँ
से चक दिया था।

कमला को लगना है कि प्रभात को किसी की सुध रहती है, पर वह वह नहीं
पाती।

फिर एक दिन संध्या को प्रभात आया, बैठा, तो कमला की माँ ने कहा था—
“कमला भोला है, कहीं किसी को सौंपना है उसे।”

वह सब प्रभात जानता है, कमला की माँ की दृष्टि भी उसी पर है। कभी
राह चलते चलते उसने कहा था—“तुम्हें तो मैं भगना बनानेवाली हूँ।” और उसने
कबल ज़रा गम्भीर हो, बात को गलत उत्तर दिया था—“मैं तो भाव का ही हूँ।”
शान्ति को दया सोचा, वह रोव बुरा नहीं है। चुपचाप साथ-साथ चल दिया था।
यह वह उसका उत्तर क्या दे ?

विवाद ?

छि, छि छि !

×

×

×

दूर पर शान्ति को दूरी साक्षी में उलझा देख वह रुका। वह सभी विदा हो कर
गई थी, हाथों में टापमखड़ कट का दो पतली-पतली चूड़ियाँ, पोंवा में पापस, शान्ति
खिली खिली लगी। कहने लगी—“यही समाज का पिधान है, तुम्हें योंना है—
तुम से दूर-दूर देखो नारी की पहचान करो।” और प्रभात ज़रा पास गया, हँसता
हँसता। वह बैठी रही, एक कोने में दुबकी दुबकी। फिर उसे देना धीरे से बोधी—
“मन का न होना हा होगा है। स्वामी असत्य है। कल बात थीत में अन्द मे जोर
से डौटा और और तुम !”

“शान्ति !”

वह कहती हा गई।

“जिसे पाया उसे खोया, और ‘पाया’ की जिन्दगी का एक मार है, मार
रहेगा।”

“शान्ति !”

उसकी

थी।

ह

उत्साहना

इस दूर तक बहती नदी में जैसे शोभा के नाम की चिट्ठा छिपा, खिल, अब लगता है झररत निभा, पास पास जा, जिम्मेदारी से जग केवल उत्तरदायिन्व में रह जाना पड़ेगा। पिछले दिनों की बात पढ़ान में आ, लहरों स खेल, क्या बिसेर दिल में एक स्थान बना, जैसे सुम्माना चाहती हो कि तू चिट्ठी लिखना, मेरे नाम की। पढ़ना भा। अपना हा झररत सहा। कुछ भी हो।

श्रीर शोभा का चिट्ठी—
शोभा !

आज कई दिनों से तुम्हे पत्र लिखने की सोच रहा हूँ। चारता हूँ कि अपनी यह ज़रा-सी वियशता थोँच, सीमित कर आगे बिछ जाऊँ। और तब हृदय-मात्र से तुम्हारे सहारे जो दुनियादारी का उसूल जमा है, उसे छोटा न करूँ। ठीक वैसा ही उसे मिला। घटनायें कहीं तक सिराँ। जिम्मेदारी में जगो तू घर आकर जैसे खाता रहना नहीं चाहता। तू भी क्या है ? जैसे कभी समझ में भी नहीं पतरी है। अलग अलग अपना रास्ता आविर बनाये ही रही। वहीं स कहता लगती—मैं हूँ कोई दूसरा कहीं (?) तब ही याद आतो है कि तुम्हने कुछ छिपाया नहीं है।

पिछले दिनां वह टिकी खिली श्यामा शौलों में आ जम खली थी। तुम्ह लिखते भी कहीं शमाया था। अभी भा वह वैसी ही है। हँसती, खिल खिलती वही रहता। उससे मिल एक गह वनी थी। वहीं पर उसे टिका पिठा आनी आया था। सब मन में उसके प्रति सौदा नहीं था। आज श्यामा का अभाव अखरता है। मन से जग भगद जैसे पढ़ना चाहती हा कि अलग क्यों और मैं ?

सपेद साड़ी पहने थी।

सादे बालों में किलव खगे थे।

थोच में एक छोटी-सी वि दी।

एव सुन्दर लगा वह। हँस बोली था—“हम श्रीर
“हम-तुम !”

“हाँ !”

आगे बड़ दिख में झुक ही रही । धड़ा का अभाव था कहाँ ? मन में एक उलझन था । उसे विखेर चाहा था कि निभ जाऊँ (!) और तुम्हे भी तो खिला था कि श्यामा मुझे खूब भली लगती है । तब क्या मालूम था कि हम पृथक ही रहेंगे— श्यामा स बहुत दूर । वहीं रह अपना जिन्दगा चला, जिम्मेदारी समेट चाहेंगे कि हम वहीं रहे । पास नहीं और श्यामा सिट्टियाँ खिला खूब जानती है । उसी के मदारे कह-सुन, ज़रा हलका हो, भाफल धन पास आ जाती है ।

अब उसके स्वामी हैं । उसी में अपने को समूचा पातो जैसे हटना उससे एक पाप है । उस पार गया था—श्यामा दुबली मिठी । मुझे देख हँसी नहीं । पास आ, धार नमस्ते कर एक घोर गम्भीर हो खड़ा गई । मन से यह उलझी, पूत्रा—“श्यामा, क्या है ?”

“श्यामा—?” यात इसके दुहराई । ऊपर जाने पर जाती बोला—“खब क्या बात है—? जैसे कुछ जानते ही नहीं ।”

“श्यामा !”

श्यामा नाचे आई । बोली—“किसी दूसरे के पाप रखना अच्छा लगता नहीं । मेरी कमजोरी को कमजोरी कह क्यों धड़ा रहे हो । कल चार चूड़ियाँ ला देना माँग का सिन्दूर भी । पराये हाथ क्यों लूँ । और तुम ? स्वामी !”

आगे श्यामा ने चूड़ियाँ उतार फश पर फेंका । उनकी खन खन सुनी । तभी सोचा—यह श्यामा कब अपने को समझ सकेगी । फिर माँग का सिन्दूर पोंछ आगे आई । बोली—

“देखो, अभी मुझ में कुछ भी धुराई नहीं है । तुम सब चीजें कज जाना जरूर तभी पहिनुँगी अच्छा !”

शाम का देर से मैं चला आया । आज तक श्यामा की चाजें नहीं भेजी है । यह भोजी नारी आग कोरे कागज़ पर दिखरी मालूम देती है, कहती सी—“मेरी चीजें और क्या तुम्हारा यही आदेश है ?”

तभी पास में एक छोटे बच्चे की दुई भरी हँसी खेजती । उनका ‘प्रिक्रपरा’ सँभाक कर रख लिया है । पकोस में नाता जोड़ एक को खाधा बनाया था । यह चाची भी बी से उलझी हैं । और बच्चा—? उन्हीं का वह छोटा-सा बच्चा बीमार रहा था । देखने गया । वह भोजी शिशु—छोटा सी चारपाई पर खेग असहाय खगा । कहता—
‘मैं अपनी पोधा बला नहीं पाता !’ उसकी गोरी गोरी सूरत मुँह तक बिखरे

बाल शॉलों के पास एक छोग-सा दाग । धीर बघा बीमार रहा । पाड़ा से
तिलमिला, मुँह खोल चुप ही रहता । कुछ बोझता नहीं । मन भर आया । डाक्टर ने
कहा— ताकत का दवा देता हूँ ।' वह पैर पर मुक़ने वाला डाक्टर !

और उसका प्रतिक्रमण ?

यथा मर चुका था ।

घर आया । प्रिक्रमण बन्द कर सोचा—पया सचमुच वह मर गया । धीर
डाक्टर का ताकत की दवा !

एक दिन सुना चाची ने गाना नहीं गायो । उसी के पीछे । सुन लूँ
हँसा । आन सोचता हूँ, मुझे हँसना नहीं चाहिय था । वह निमा कहाँ धीर फिर

अब की रयामा से मिला था । बच्चे की यात कही, तो वह वाली—'आप क्यों
दु ख खेत फिरते हैं । आप पुरप हैं । पंगा होना आपके जिये ठीक नहीं ।'

मन के निकट सभी कामना कहती थी—'कज थाऊँगी अरुधा !'

कामना का मकान बड़ा भारी है । मुझे बहुत अरुधा लगता है । उसी में रह,
अपने को सँवार मुमस लगा है । कमा मुझे भी तो कामना के विषय में लिखा था ।
लूँ लिखा है वह ! सब उसे देखते ही नहीं भरता । पहिले ही दिन चुल मित्र
गई था । तब हा में ने सोचा था—'यह नारी दिख यसा सकेगी । उसकी बड़ी दवा
शॉलें नीला नीला मुझे भाती हैं । दिख में बिखरी एक घर बना वहाँ रहतो है ।
बाहर क्यों (?) चलते-चलते थोड़ी पीड़ा पी ला है । उसने गहरी गहरी—घनी
घनी ! उसी में अपने को धाम जरा दु ली हो हँस खेला चला की है । कानो पड़ी है ।
रगी सादियों से उलझी उलझी वह लगता है, जैसे कोई अपनी रही हो । नीचे बैगती,
धीर खोल शॉलों में समझ, पसरता लगती है । एक युवक उसके जीवन में आया था ।
अपना याद सँत वह चला कहता—'कामना ! मेरी ।'

वह युवक अब इलाहाबाद में पढ़ता है । नाम मुझे नहीं बताऊँगा । वही काजेज
की पुस्तका से उलझ, काली-काली छपी छापे की खकीरों में कामना को हँस, समझ
खेना चाहता है । जब कामना छोटा थी । बच्चों के सँ जापरवाह करने पहिनती । घर
में सीढ़ी-दोड़ी रहती । तब क्या उसे पता था कि वह उसे ठुकरा जिन्दगी में हटा
कहाँ दूर फँक दगा । घरणें अपने को उसमें पाती ।

विद्युले दिनों इलाहाबाद गया था । तभी उससे मिला था । कामना की फोटो
पर शॉलें तिकी । तब लुखूँ खेना चाहती हों । सब समझ वह बोला—'वह भी
एक जिन्दगी की सनक है । कम्मो की यही फोजे जी मानतान ही

और कम्मो न कर सकी थी नहीं। चुप चाप ले, अन्दर जा सड़क में बंद कर देगा।

चिपुले दिनों उसी साढ़ा के कुछ डुकड़े मकान के पीछे कूरे में मिले थे। मौने मुना तो बुरा भला कहा था।

दिल में एक छँधेरा, दूर पर उदासी से भरा। हटता कहाँ? फिर कामना निकल या कमा घर पर मिली खिची। मुझे दख उठी, धारे बोली—“आदये।”

कुछ थोमार रही यह। कमजोरी में आद भर। मैं रुका नहीं, चुपचाप बराबरी म सौस ली। वहाँ सफेद सफेद कबूतर खकरी के घर से निकलते मूँक, पल खोज उसी में रहते, जैसे यह, उसी तक उनका पहुँच रही हो। यह काब्रे रग का बड़ा सा कबूतर और फैजाता, फिर जाने पर पजा बड़ा, कहता सा—“मैं कम्मो का सिचाया हूँ। और यह काब्रा-काबी मेरा साथिन जानते हो।”

साथिन ! सोचा, अथ इतने दिनों के बाद क्या दुनिया में रह कर, कामना को इलाहाबाद वाले युवक को याद नहीं आती होगा। तभी जैसे कामना सामने ही गुस्ता स कहती—“हि ! मेरा स्वामा है और यह ! निकट में पुस्तकों से भरी अटमारा। आगे हरे खिल बीच काज काज ! और आगे कामना को देख जरा उलझा। खौन, तो कामना को दीही से उलझा पाया। पास आया, कामना कुछ दिखाती सी लगी। कहा—“कामना।”

दूर ही यह रही। वहाँ से थोड़ा हँस बोली—“कुछ नहीं थाप ?”

“कामना, मुझे नहीं दिवाओगी ?”

मुन, कामना कुछ सिधिल हो दूर ही रही। चोरी पकड़ी गई थी। लजातो खजाती कुछ बोली नहीं फिर पास आ बोली—“आपसे क्या लिपाऊँ !”

कामना तस्वीर में आई। सफेद साढ़ा पहिने थी। सिक्कन से डग। उसा में निष्ठा खिजा किसी कजाकार की मारपन कोरे कामग पर हँसता रही—सजीव ही तो ! नीचे तान अचरों का गाम ! इलाहाबाद वाला युवक समीप आया। डीला डाला पैट पहिने था, होस्टल में बैठा कहता जगा—“मैं ने कभी कम्मो का एक तस्वीर खींची थी। तभी अपना अधिकार हँग बीच अपना नाम लिख, मिग्ता मिग्ता मिट गया था। चिपुले दिनों यह तस्वीर मौग भञ्जी थी। मुना था, कम्मो उसे कहाँ बाहर भेजने वाली है।” युवक हँस कर कुछ दूर दूट गया। अपने में आया, कामना सामने रही। शरमाई-शरमाई—पाड़ हरी। उसका टटापन छाज दिख में कुछ-कुछ करने जगता है। सोचता है—इतना सब कुछ होने पर भी कामना ने अपने को पृथक क्यों रखा ?

कुछ दिन बाद सुना था, कामना ने खुद ही विवाह के लिये उससे 'न कर दिया था। कामना आज भा एक पहेली बगो आफिस की पाइला से खेलती लगती है। वही 'शाट'हेड' की बेमेज लकीरों में यह छुपती नहीं। पतली, लाब, लकीरों से भी आफिस से दी हुई काफी के एक कोने पर बैठी हँसती हँसती कहती-सी— 'मुम काम करो, मैं तुम्हारे साथ हूँ।'

तुम खुद पहचानती है कामना। घर आ छिपी छिपी यह रही थी एक ओर। शोबार का ओर ले। बाहर से आया, सीधे बराबदा पार कर अन्दर पहुँचा। शकती पकड़ी गई। पीछे कामना अपनी सुपुदगी में जान रख हँसी थी। अपनी सफजता पर। तब सोचा था—क्या विवाह हो जाने के बाद भी कामना निरी बची ही रहेगी। बच्चों की सा चाब चलता है। हँसती और खेलती भी। फिर अन्दर भेज स भेरा फग कटा बोली था—“अच्छा, यह चोरी क्यों ?”

“चोरी।”

“तो फिर किसके लिये खिचवाई है ?”

“तेरे !”

कामना जैसे कट गई हो।

कुछ भेपी सी लगी। रुमाल मुँह पर रख हँसा थी खूब। फिर उसे ब्लाउज की जेब में रख पास आ बोली थी—“एक काफी और चाहिये ?”

“क्यों ?”

“एक हमारी और एक हमारी यद्दिन की।”

“बहिन ?”

तब कहीं समझा था कि यह नाम कामना ने तुम्हें ही दिया था। अपना माफत काफी की छोट ले जरा अपनीव बिसेर तुम्हें ही गिन्दगी में सीपा था। आज उसको यह बात मन में झगडा करती है।

तब मैं ने उसका नाम बदल कर आया कर दिया था। यह दो अक्षर अपने में एसी वेदना भरते कि समझ नहीं पाता कि मैं तब कुछ क्यों न हुआ। यह धार धार हला बरती, झगडता, आगे बढ़ती। आया को भौं न पाता। सिखी-सिखी पनरती। फैली बही रहती। कहता-कहती यह आया कीग है ? जो धार के दिख से चिकोटी काटती हँसती ही रहती है, एक अपनाय खादे। कहीं जाता कहीं ? और वास्तविक आत आन बलमन छोड़ जाज से कट यह सुन्दर नारी सब मान खेती। फिर भी सकाता मिश्रता—“जो, हों ! मैं सब जानता हूँ, आप ने आजकल किसी और !”

“सच, नहीं कामना !”

फिर कसम का दिमागी बुनियाद पर बह जाती। यही हात मानती। कइती—
“तुम्हें धाय क्यों मानते हैं ?”

आरुध्र उसके पास भा खामी है। सुना दे कॉलेज का प्रोफेसर है। कइती
‘इकनामिष्य’ और ‘ऑजिड’ की गहरा दासनेक्या में हूब वसे खोज कइ छना
चाहता है कि कामों में भी हूँ। मुझे धोखा न देना, अरुध्र ! पर कामना को क्या
कमी ठाक-ठाक समझ सकगा ? तभी गये कइ कहता—‘नहीं, नहीं, नहीं !’

हाँ ! तेरी चिट्ठियों का पान । तेरी चिट्ठियों भी रूख होतो हैं। याद है—
शादा के कुछ दिन पहिल ही वे चिट्ठियाँ । जैसे उन काबो-काबो जहोनों में हो पिना
नाम का पिटो मुझमें टगरना चाहता भी। उन्हीं की मारफन सब कुछ कइता, तब
मुझे कहीं मालूम था कि तारा इतना कमजोर है। मारा का भावना निरी समझा था।
पकड़ी भा नहीं ! चिट्ठियों की समझ आई था मुझको—‘मैं दूर कहीं पाव ही वा,
मुम गाना नहीं यहाँ रहना पास हा । पर से मेरी गुराई दूर करती। यही अगबता ।
आन तेरा वे चिट्ठियाँ मेरे और तरे बाव मात्र एक अचनाइ बाव खबर हैं।

शादा का पान !

तू चुप रही थी। तइारा पकड़ सब समझता खगा। दूर पर हँसनी यह उपेक्षा
कइती पी धाया था। शाला का साग । मन खोज सब कुछ दे अरुने में सिगट चाहा
था कि तुम्हें अरुभी भत हूँ। शाला बाव उससे खगा तू ? भावना उस बाप
खड़ी कर खेना आज एक साधारण बात है।

तब ही इस सन्ना चौका जिन्दगी में शाला को बीच ला पसरा पसराई रही ।
मन कहता जि ! दि ! तू

पर तुम्हें कुछ छिपाऊँगा नहीं। कभा छिपाया है या आज हा ? शाला ने कहा
था—शोभा तरे जिये गृहस्थी सुगयगी। एक खिलौना बन तेरी उस गृहस्थी में अ'
शोभा दु ख बॉट रूख निभेगी । तू ने भी तो अरुनी राय दी था। तब मेरे सामने
समझ जरा शरमाई खगी था। भावुकता में जब बइता हूँ अरुने से कोई रास्ता बन'
खेकता, सामने रहता और तू ।

(२)

कामना भी खूब है। जा कहती, करता। बिलकुल सब सब, सूट हा क्यों ? बात
बना, उसस सिर नवाना उसे आता नहीं। अरुनी गौर-दाजिरी में जिम्मेदारी बिलेखने
की चाही रही है। सिफ एक दिन घर से धा कर सुना—शोभा की शादा हो गई ।
शाम को कामना ने सुनाया।

‘मनु’य जो चाहता—वहीं रह, उसे पाता नहीं ।

“कामना ?”

कामना बोली—“घाहा था कि शोभा बहिन को आप में सीप सेचूँ कि दूर नहीं !”

हरी-लाल विन्दियों से लगी साड़ी में कामना रही। उसी में एक घर बनाती, वहाँ दुबकी, खूब सिली खिली। शोभा का यद्दाना जुग मन के पास आई। दूर पर काले-काले यादलों के पास तभी जैसे शोभा अपने स्वामी के पास रही हो। जैसे की गृहस्थी जुग, उसी में सुख समेट कहने लगी—तू बिना जैसे का यहीं रहना आगे खूब सपेद सफ़ी हिलाते हिलाते फिलमिल भाग गई। कहती-कहती छि ! छि ! तू कहाँ और मैं ? सोचा जिन्दगी में एक परिवर्तन भर हम दु छ को समीप रखते। पहिचानते नहीं। और शोभा क्या सच ही जैसे पर पसरती। स्वप्न, निराशा, दु छ, पीडा सय हो तो हम जैसे पर टिका आगे चलते हैं। सोचने की सामर्थ्य हारा। ध्यान देता। कामना ने कहा—“बया शोभा दीदी की याद आ रही है ?”

शोभा ।

मन भर आया। एक दिन यह ही अक्षर का नाम अपनी हँसी बिलेर विल मे खेला था। खूब समझता, ज़रा पसर जैसे गूक ही ही वेदना भरने आया। तब मन हलका थोड़ा ही था, जो समझ लेता और अब ? कभी घूम कर वापस आया था। हारा थका, तभी शोभा के बड़े भाई ने चिट्ठी ला कर दी। यह रूखदार कागज़ का छोटा टुकड़ा एक प्यया की लकीर खींच दिल में दिखरा। छोटी सी कविता की भाठ दस लाइनें—और तभी आगे टुकड़ों पर मागे शोभा था, हँस चिट्ठी छिख गई हो।

“ ।

मेरी कविता भी क्या खूब है, आपकी पसन्द में रहेगी भी । ज़रा लिखते-लिखते थक जाती हूँ। और तब चाहती हूँ कि अब न लिखूँ। पर अपनी कमा, कुछ भी कहो ज़रूरत ही सही। और मेरे आने से आपने आना क्यों बन्द कर दिया ?

तुम्हारी—

शोभा ।”

तब शोभा घर से वापस आई था। अपने पीछे की बातों से ज़रा अलग रही। सुबह सफ़लता पा, मुझे देख माघ, दरवाज़े की ओट खे जैसे बोली हो—“मेरी चज़ और ?” फिर प्लोट की वह नमकीन कहाँ रखाई गई थी। रातों में आते सोचा था,

शोभा से जमा सब विषा है । जिन्दगी का सुख-दुःख मटोर यह भागे आई । वही हसती रही । खिलखिलाती पसरती । एक स्थान सुम्नाती । अपने सौँसे की बात सुन कर तब शोभा जरा मन के निकट हँसा समेटे बड़े बड़े आँसुओं में रोई धा । कहती तुम मुझे दूर करोगी, पाओ ! और अब मैं रुका । पिछले दिनों कामना की बात याद आई । यह चुप क्यों रहे । दुनियादारी में अपने को गला । केवल खाने को ठहरा थी । केले छील पास का बिछरी । फिर दूर हा से योला—“आप भी !”

आगे मृत शरम में खो गई ।

कामना केवल तब हँसी भर भी और यशाना करते देख दुःख में सिकुड़ जरा गुस्ता हो खोजी थी—“आप को मेरा कसम दे दो न खावें !”

कामना भरी पूरी मन के नीचे ठाकूठीक उतरी । उस दिन कामना को अर्थात् नहीं खगा कि वह टहरे । मान चीत का सिलसिला जलम का चञ्चता बनी ।

×

×

×

दो महान क याद एक उजाली रात ! सामने दूधपो घोंदनी बिल्ली उसी में खोया, भावना समेटे कुछ खिलने मात्र सुखा कि कामना ने आ दरवाजा खट खटाया । पीछे एक छाया-सी दूसरा नारा को समेटे वह भागे रही । फिर बोला—
‘हसे सौँपने खाई हूँ !’

“कामना !”

“हाँ, मुझे यकीन भा कि आप मेरी बात जाने न देंगे । तभी तो यह साहस किया ।’ आगे बोला—“कल आई है, स्वामी का पता नहीं ।” शायद बात आँसुओं में बह गई ।

सुन कहा—“कामना मैं समझ न सका !”

और कामना ने आँसू पोंड़ कर कहा—“यह शोभा है जिसे एक दिन नुहारा !”

“शोभा !”

दुबका पतली, केवल हड्डियों में समित और यह शोभा ? भावना बाँट बोला—
“तो फिर !”

आगे घपी देर तक कामना चुप रहा । अन्त में बोली—“तो फिर मैं अब जाती हूँ ।”

यातों ने एक जगह धनाई । वहाँ शोभा की तश्तरियों का उलाहना लम हा गया । उसी के निकट गामा का गोरा-गोरा मुँह कहता लगा—‘घोखेबाज़, कलाकार ! तू और मेरा स्वामी विना पैसे का ।’

हूँके बोला—‘कामना ! पहले शोभा का उलाहना चुकाना है । फिर सोच कर वत्तर दूँगा, अभी नहीं । मैं ने मिठाई खाई है । कुछ लाकच ही तो ।’

मेरी मिठाई ।

शोभा कुछ चौंकी । उसने मिठाईयाँ खिजाई हैं । पर स्वामी ! और अब

बोली—‘इतना खोटा उत्तर

मैं बोला—‘शोभा सम्भव है मनुष्य के कोई बात न खगती हो । फिर भी उसके दिल में एक गहरी चीज़ रह जाती है, जिसे निकाल, बाहर जाना ही यह चाहता है ।’

शोभा बोली—‘उस गहरी चीज़ से अब दर खगता है । गुरसे से ऊब बात कहने में कमा बड़ा सुख मिला । फिर भी !’

‘शोभा !’

आगे फिर शोभा बैठी नहीं । कामना को लेकर वठ पड़ी । फिर बढ़ती दयाया समेट, दूर होती होती चली गई ।

रात भर शरीर आग सा जलता रहा । हाथ-पैरों में दूद की भारी अधिबना थी । सुबह एक थाल में मिठाई की तश्तरियाँ खगवा शोभा के घर पहुँचा । नौकर से कहला भेजा, और तब ऊपर कमरे में बैठा शोभा ने सोचा—यह नरेंद्र भी कैसा है ? क्या कभी भी इसको सभक सकँगी । हल्की घात को भी गहरी यात्रा जिन्दगी में समेट लेता है । गुलाबी साड़ी में लिंबी रिखा न चे भाई । बोली—‘ओह, आप हैं ?’

मैंने वैसे ही कहा—‘समा, करियेगा । आज ही थापका उलाहना चुका पाया हूँ ।’

और शोभा जैसे चौंकती बोली—‘उलाहना !’

‘हाँ, हाँ, आप की सारी तश्तरियाँ जाया हूँ, इ हूँ सँभलिय । मैं हारा । हारा ।’

‘मगर आप की तबियत कैसी है ? ये शौंखें कैसी लाज और कैसा

“शोभा ! यह श्‍यर्ष की बातें हैं । मित्राई सँवार लो । मैं खन्न रहा हूँ ।”

शोभा के दिल में भावना पसरी । मेरा जान पहिचान ले वहीं रही । आगे नहीं बढ़ी । समता, स्नेह, सुख, मिलन सभा तो इस भावना में था । बोली—“कहाँ सखा सरु आय सब ?”

“आय के जाने के बाद सारा कितायें बेच दीं ।”

‘और मेरे लिये दा जाने वाली भी ।’

‘उनका क्या करता शोभा ! वे भी तो उलाहना चुकाना मात्र थीं । वे भी साथ गईं ।’

थव शोभा आगे बढ़ी ।

हाथ पकड़ बोली—“सोइ ! चो !”

आगे कड़ती रही—“यह कहिये, आय को सुखार भी हे । मैं सोचती थी कि क्या धान हे ? आय ने पताया क्यों नहीं ?” कि बोधे तौगेशाले को विश्‍वाता सुन बोला—‘और यह तौगावाला क्यों सुखा रहा हे ।’

“जा तो रहा हूँ । कुछ सामान इसा में धरा है ।”

चौंक शोभा ने प्रश्न किये—“कौन जा रहा हे ? घर क्यों जा रहे हो ? थमी क्या हे घर में, कहीं घर हे, तुम्हें सुखार क्यों आया ? मेरे उलाहने के पीछे कितायें क्यों बेची ?”

फिर धारे से मस्तक छू हाथ पकड़, सँभावते हुये बोली—“बलिये ऊपर लेटिये ! फिर जाइयेगा घर ।”

शोभा, एक बात सुन लो । देखो, घरन स्वामा का हूँदना । और मिल जाने पर ठसी के निरु विद्याना । अज्ञा ।”

शोभा बोली जैसे हा—‘यह सब फिर कहियेगा, ऊपर बलिये । आर घर क्यों जा रहे हैं ? फिर देखा लायेगा ।’

“देखो, शोभा एक बात और हतनी नददा नराज हो बात न खगाना यह तुम्हारा स्वामी हे । स्वामा हा रहेगा ।”

आँखें शोभा के मुँहे घेहरे पर पड़ीं । वह लाज म लाज हो रही थी । आँखें भरी भरी थीं—जैसे अब रोई अब रोई । बोली—“बलिये !” फिर ऊपर सँभालती पहुँची । एक विस्तरे पर झिग बोली—“अब तो जाह्य । फिर सुनूँगी सब बातें !”

। आँखों में शोभा का वह स्नेह घूम गया । फिर धीरे धारे दिन्न के नीचे डतरा, मुफाता लगा—नारी की कोमलता—और शोभा भी तो नारी हा है ।

तमी चादर उड़ा, वह सामने ही हँस, खिली खिली खूब, बोली—“अपने उलाहने तुम्हें भी समेटा है । मिठाई और तरतरी भी । अब मिठाई मेरी, और मिठाई वाला भी मेरा ।”

फिर तरतरी पाम वा कहती गई—“मेरा उलाहना मिगाइये !”

आगे खूब मुसुराती सामने से भिन्नमिल भाग गई । तमी मैंने सोचा—शोभा का उलाहना ।

